पथ के प्रदीपों से जगमग

आलोकित रास्ते

परमगुरु ओशो
के श्री चरणों में समर्पित

स्वामी शैलेन्द्र सरस्वती जी

श्री रजनीश ध्यान मंदिर
कुमाशपुर–दीपालपुर रोड
जिलाः सोनीपत, हरियाणा 131021

 contact@oshofragrance.org

 www.oshofragrance.org

   Rajneeshfragrance

+91 7988229565
+91 7988969660
+91 7015800931

आलोकित रास्ते

परमगुरु ओशो की कृति 'पथ के प्रदीप' के संदर्भ में
आस्था टी.वी. चैनल पर हुए 24 साक्षात्कारों का संकलन

--स्वामी शैलेन्द्र सरस्वती जी--

अनुक्रमांक

प्रवचन 1

मुक्ति और प्रभु उपलब्धि

नमस्कार। आस्था चैनल के इस कार्यक्रम में समस्त दर्शक भाई–बहनों का हार्दिक अभिनंदन है। मित्रो, आज से एक नई प्रवचन–श्रृंखला की शुरुआत हो रही है––'पथ के प्रदीप'। शैलेन्द्र जी, प्रणाम। हमारे स्टुडियो में आपका बहुत बहुत स्वागत है। आपके सम्मुख अपना प्रथम निवेदन रख रही हूं, कि परम्गुरु ओशो की पुस्तक 'पथ के प्रदीप' के बारे में आप हमारे टी.वी. दर्शकों को बताने की अनुकंपा कीजिए।

हिन्दी और अंग्रेजी में सद्गुरु ओशो की लगभग छः सौ पचास मूल किताबें हैं जो अब तक दुनिया की करीब पैंसठ भाषाओं में अनुवादित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों में उनके द्वारा दिए गए छः हजार से ज्यादा सूत्रों पर प्रवचन या प्रश्नोत्तर हैं। करीब दस किताबें ऐसी हैं जो पत्रों का संकलन है। सदगुरु ओशो ने अपने साधक–साधिकाओं के लिए, शिष्य–शिष्याओं के लिए हजारों पत्र लिखे। कई बार आश्चर्य होता है कि कितना व्यस्त उनका सेड्यूल रहा करता था। महीने में दस दिन तो ट्रेन में ही गुजरते थे। लेकिन इसके बावजूद भी किसी को उत्तर देने में विलंब नहीं होता था। ऐसी ही एक अनूठा कोहिनूर है––'पथ के प्रदीप' जिसमें सौ प्त्र संकलित हैं। ऐसा नहीं समझना कि ये जिसे लिखे गए, निजी रूप से उसी व्यक्ति के लिए उपयोगी हैं। ये हम सब के काम के हैं। हमारे अंधियारे जीवन में भी ये रोशनी भर सकते हैं। 'पथ के प्रदीप' ओशो की अद्भुत व निराली किताबों में से एक है।

दूसरा प्रश्न : गुरुदेव, धन्यवाद। अब हमें यह समझाएं कि सद्गुरु ओशो की दृष्टि में मुक्ति और प्रभु–उपलब्धि क्या है?

मुक्ति और प्रभु उपलब्धि तो पर्यायवाची शब्द है। ध्यानी जिसको कहते हैं 'मुक्ति' भक्त उसी को कहेंगे 'परमात्मा की उपलब्धि' इन दोनों शब्दों को आप समानार्थी ही समझें।

आध्यात्मिक जंजीर क्या है? इसको समझने से पहले थोड़ा–सा यह समझ लें कि बाहर के जगत में हम जंजीर या गुलामी या दासता किसे कहते हैं? कोई और हमें बंधन में डाल लेता है। समझो, अंग्रेजों का गुलाम था हमारा देश और 1947 में हम आजाद हुए। तो गुलाम किसने बनाया था? अंग्रेजों ने। और स्वतंत्र हम किससे हुए? अंग्रेजों से हुए। 1947 में अंग्रेज इस देश को छोड़कर चले गए। परतंत्रता भी उनके द्वारा आरोपित की गई थीं, स्वतंत्रता भी उनके द्वारा दी गई।

बाहर के जगत में कोई दूसरा होता है, जो हमें बंधन में डालता है। चाहे वह कोई व्यक्ति हो, समाज हो, मुल्क हो या कोई परिस्थिति हो। समझो, समाज की अर्थव्यवस्था है, उसकी वजह से लोग आर्थिक परतंत्रता में हैं, दरिद्रता की जकड़ में हैं। यह दासता परिस्थितियों के द्वारा उत्पन्न की गई है। यह परिस्थिति जन्य है और परिस्थिति बाहर से बदली जा सकती है। सरकार साम्यवादी हो गई रूस में और चीन में तो लोगों की आर्थिक गुलामी समाप्त हो गई। सब समान रूप से सम्पन्न हो गए।

अब समझना आत्मिक या आध्यात्मिक का क्या अर्थ है? वह जो हमारे भीतर है। भीतर किसी अन्य का प्रवेश तो नहीं हो सकता। भीतर केवल मैं हीं हूं, बस। मेरे भीतर जब मैं डूबता हूं तो स्वयं की चेतना के अतिरिक्त किसी और को नहीं पाता। वहां कौन गुलाम बनाएगा मुझे? मैं स्वयं ही स्वयं को गुलाम बना रहा हूं। अंजाने में, बेहोशी में कोई जंजीर मैंने जकड़ ली है। वह भी स्व–निर्मित है और इसीलिए भीतर की जो स्वतंत्रता है या मुक्ति है, वह भी स्वयं की स्वयं से मुक्ति होगी। इस बात को बहुत गौर से पकड़ना– स्वयं की स्वयं से मुक्ति। (फ्रीडम फ्रॉम द सेल्फ)। बाहर जो स्वतंत्रता है, वह है फ्रीडम फ्रॉम द अदर, दूसरे से मुक्ति। भीतर है 'स्व' से मुक्ति। फ्रीडम फ्राम द इगो, वह जो अहंकार की भावना है कि 'मैं' हूं, जिस क्षण यह छूट जाएगी उस दिन परम मुक्ति घटित हो जाएगी। आइए, इस संदर्भ में 'पथ के प्रदीप' पत्र संकलन से एक बहुत प्यारा पत्र आपको पढ़कर सुनाता हूं।

'मनुष्य का जन्म दासता में है। हम अपने ही दास पैदा होते हैं। वासना की जंजीरों के साथ ही जगत में हमारा आना होता है। बहुत सूक्ष्म बंधन हमें बांधे हैं। परतंत्रता जन्मजात है, वह प्रकृति प्रदत्त है। हमें उसे कमाना नहीं होता। मनुष्य पाता है कि वह परतंत्र है।

'पर' स्वतंत्रता अर्जित करनी होती है। उसे वही उपलब्ध होता है जो उसके लिए श्रम और संघर्ष करता है। स्वतंत्रता के लिए मूल्य देना होता है। जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, वह निर्मूल्य नहीं मिलता। प्रकृति से मिली परतंत्रता दुर्भाग्य नहीं है। दुर्भाग्य है स्वतंत्रता को अर्जित न कर पाना। दास पैदा होना बुरा नहीं, पर दास ही मर जाना अवश्य बुरा है। अंतस की स्वतंत्रता को पाए बिना जीवन कुछ भी सार्थकता और

कृतार्थता तक नहीं पहुंचता है। वासनाओं की कैद में जो बंद हैं और जिन्होंने विवेक का मुक्त आकाश नहीं जाना है, उन्होंने जीवन तो पाया पर वे जीवन को जानने से वंचित रह गए हैं। पिंजड़ों में कैद पंछियों और वासनाओं की कैद में पड़ी आत्माओं के जीवन में कोई भेद नहीं है। विवेक जब वासना से मुक्त होता है, तभी वास्तविक जीवन के जगत में प्रवेश होता है। प्रभु को जानना है तो स्वयं को जीतो। स्वयं से ही जो पराजित है, प्रभु के राज्य की विजय उनके लिए नहीं है।

तीसरा प्रश्न – प्रकृति ने मनुष्य को आदतों और वासनाओं का गुलाम क्यों बनाया है? यह दुर्भाग्य किस बात की सजा है?

यह किसी पाप की सजा नहीं है, यह प्रकृति का खेल है, ऐसी परमात्मा की रचना है। यह दुर्भाग्य भी नहीं। हां, इससे अगर हम बाहर न निकल पाएं तो वह दुर्भाग्य है। इस बात को मैं पुनः दोहराना चाहूंगा कि प्रकृति ने हमें जैसा पैदा किया है, उसके साथ बहुत–सी नेगेटिव चीजें जुड़ी हुई हैं। लेकिन यह किसी पाप की सजा नहीं है, यह किसी पिछले जन्मों के कर्मों का दंड भी नहीं है, यह कोई बदकिस्मती की बात भी नहीं है बल्कि यह एक प्रकार की चुनौती है। क्या हम स्वतंत्र हो पाएंगे?

दासता में तो हम पैदा हुए हैं, पैदा होते से ही अहंकार ने हमको घेर लिया, हम अहंकार में जकड़ गए। यह तो बिल्कुल स्वभाविक प्रक्रिया थी। लेकिन इसको विकास के क्रम की तरह देखना। एक चैलेंज है, एक चुनौती है।

एक पत्थर है सामने और नदी को बहना है। नदी को ऐसा लगता होगा कि प्रकृति ने अवरोध क्यों किया? क्यों मेरे रास्ते में पत्थर, चट्टान आ गए? क्यों पहाड़ आ गए? लेकिन नदी अपना रास्ता खोजती जाती है, निकलती जाती है और एक दिन हम देखते हैं कि वे चट्टानें सब रेत के ढेर बन गईं। यूं तो देखने में लगता है कि पानी कितना कोमल? चट्टान कितनी मजबूत? लेकिन अंततः हम पाते हैं कि ठोस चट्टान भी घिस–घिस कर रेत बन गई, पानी जीत गया। ठीक ऐसे ही हमारे भीतर भी प्रभु की इस अद्भुत संरचना में बहुत–सी बाधाएं हैं; लेकिन मैं उन्हें बाधाएं नहीं कहना चाहूंगा, मैं उन्हें चुनौतियां कहना चाहूंगा। एक पॉजिटिव टर्म। सकारात्मक ढंग से देखो, वह दुर्भाग्य नहीं है।

हाँ, वह हमारे लिए विकास का एक अवसर है, एक मौका है कि क्या हम इसके पार उठ सकते हैं? तो प्रकृति ने माना कि हमें अहंकार दिया, अहंकार से संबंधित षटरिपुएं दीं। हम बहुत प्रकार की जंजीरों में जकड़े हुए अपने आप को पाते हैं। किन्हीं पिछले कर्मों का दंड नहीं है, यह कोई सजा नहीं है बल्कि चुनौती है। इसको नकारात्मक ढंग से नहीं लेना। खूब पॉजिटिवली लेना। इसके पार कैसे जाएं, यह हमारे लिए एक चैलेंज है। अगर

हम पार उठ पाएं तो समझो कि हमारा बहुत विकास हो गया।

इस संदर्भ में एक बात और कहना चाहूंगा। आपने डार्विन का सिद्धांत सुना होगा कि प्रकृति में विकास का क्रम चल रहा है। थ्योरी ऑफ इवोल्यूशन, विकासवाद का सिद्धांत। लेकिन आश्चर्य की बात है कि लाखों साल से मनुष्य इस धरती पर है, मनुष्य के बाद फिर आगे का क्रम का क्या हुआ? और विकास क्यों नहीं हो रहा? यह तो समझ में आता है कि अमीबा से मछली और मेंढक और होते–होते बंदर, चिम्पैंजी और आदमी तक हम आए। फिर क्या हुआ? क्या विकास का क्रम रुक गया?

नहीं, विकास का तल बदल गया। हो सकता है शारीरिक विकास अब न हो रहा हो, लेकिन अब आध्यात्मिक विकास, एक दूसरे आयाम में हम प्रवेश कर गए। अब हमें अपनी चेतना को बढ़ाना होगा ताकि हम अहंकार की जंजीरों से मुक्त हो सकें।

तो अब सूक्ष्म विकास चल रहा है। शरीर का विकास जितना होना था हो गया, इतना पर्याप्त है और जरूरत नहीं। अब सूक्ष्मतर विकासों की जरूरत है। मानसिक विकास हो, हार्दिक विकास हो, विवेक और प्रज्ञा और बुद्धिमत्ता का विकास हो और अंततः चैतन्यता का, ध्यान का, होश का विकास हो। तब हम 'मैं' भाव से मुक्त होते हैं और पहली बार आंतरिक रूप से स्वतंत्र होते हैं।

चौथा प्रश्न – कई बार स्वतंत्रता का अर्थ हम अपने ढंग से ही ले लेते हैं एवं बुरी आदतों में फंस जाते हैं। इसके बारे में हमें बताने की अनुकंपा कीजिए कि स्वतंत्रता का मतलब अपनी आदतों से छुटकारा है या फिर आप कुछ और कहना चाहेंगे?

इसको इस रूप में भी ले सकते हैं। समझो किसी व्यक्ति को सिगरेट पीने की या शराब पीने की आदत पड़ गई। यह आदत किसने डेवलप की? उसने स्वयं की। कोई और इसके लिए जिम्मेवार नहीं है। दुनिया में सात अरब लोग हैं, शायद एक अरब लोग सिगरेट पीते होंगे। बाकी के छः अरब नहीं पी रहे हैं। तो वह जो एक अरब लोगों ने सिगरेट पीने की लत डेवलप की है, यह उन्हीं के द्वारा डेवलप्ड हुई है और जिस क्षण वे छोड़ना चाहें, उसी क्षण छोड़ सकते हैं। याद रखना सिगरेट ने तुमको नहीं पकड़ा है, तुम सिगरेट को पकड़े हुए हो। शराब ने तुमको नहीं पकड़ा है, तुम शराब को जकड़े हुए हो।

इस प्रसंग में एक बहुत अनूठी सूफी फकीर की कहानी स्मरण आती है। उस फकीर के पास एक युवक अक्सर आया–जाया करता था और कहता था कि मैं बड़े बंधनों में हूं। बड़ी आदतों का गुलाम हूं और माया, मोह, ममता ने मुझे जकड़ लिया है। मैं संसार के बंधनों में फंसा हुआ हूं। कैसे मुक्त हो जाऊं? उस फकीर ने कई बार समझाने की कोशिश की, लेकिन

उस युवक को समझ न आए। वह कहता कि आप बात तो बहुत अच्छी कहते हैं, समझ में आती है, लेकिन बंधन से छुटकारा नहीं होता। एक दिन उस सूफी फकीर ने बड़ी अद्भुत काम किया। जब युवक आया और उसने पूछा कि संसार के बंधनों से कैसे छूटूं? वह सूफी फकीर उठा और मस्जिद के पास ही एक खंबा था, उसने उस खंबे को पकड़ लिया और चारों तरफ से हाथ–पैर लपेट लिए और चिल्लाने लगा कि मुझे बचाओ, बचाओ इस खंबे ने मुझे पकड़ लिया है।

वह युवक हैरान हुआ, उसे ऐसी आशा न थी कि यह अत्यंत विवेकपूर्ण फकीर इस प्रकार का व्यवहार करेगा। उसने कहा कि महोदय, आप ही खंबे को पकड़े हुए हो, खंबा आपको नहीं पकड़े हुए है।

सूफी फकीर हंसा, उसने जोर से अट्हास किया और कहा कि यही तो मैं तुम्हें कई दिनों से समझा रहा हूं। तुम संसार को पकड़े हुए हो, तुम आदतों को पकड़े हुए हो, आदतों ने तुमको नहीं जकड़ा है। तुम काम, क्रोध, माया, मोह, ममता को पकड़े हुए हो। उन्होंने तुमको नहीं पकड़ा है और यह सौभाग्य की घटना है कि उन्होंने नहीं पकड़ा है! वरना फिर छूटना तुम्हारे हाथ में न होता। चूंकि तुमने पकड़ा है, तुम किसी भी क्षण निर्णय ले सकते हो और छोड़ सकते हो।

अतः इस बात को खूब अच्छे से हृदयंगम कीजिए। बाहर की चीजों ने भी जिनको हम सब समझते हैं कि जकड़ लिया है, उन्होंने कभी नहीं जकड़ा है। हमने ही उनको पकड़ा हुआ है और इसलिए स्वतंत्रता हमारी है, हम कभी भी उनको छोड़ सकते हैं। आज कोई व्यक्ति तय कर ले कि मुझे नहीं पीना सिगरेट, क्या सिगरेट जबरदस्ती उसके पास आती है? और ऐसे हजारों उदाहरण दुनिया में मिल जाएंगे, जिन्होंने एक क्षण में डिसाइड कर लिया और उसके बाद उनका जीवन रूपांतरित हो गया।

गुरुदेव, अब अंतिम सवाल का वक्त आ गया। आज की जो पीढ़ी है, यह नशे की आदतों में जकड़ती जा रही है। इसके लिए कोई समाधान बताएं?

समाधान वही है, जो मैंने अभी–अभी कहा है। ज्यादा जागरूक होना होगा, सजग होना होगा। नशे की आदत क्यों पड़ी? उसकी मूल वजह समझो।

व्यक्ति के जीवन में दुख है, चिंता है, परेशानी है, निराशा है। वह इन दुखों से मुक्ति पाना चाहता है। लेकिन मुक्ति पाना तो अपने आप में एक बड़ी साधना है। ध्यान–साधना द्वारा यह संभव होगा। उसमें तो वक्त लगेगा। वह कब जाग पाएगा? एक शॉर्टकट समझ में आता है कि चलो मुक्ति न सही कम–से–कम थोड़ी देर के लिए भूल जाएं, विस्मृत कर जाएं।

तब आदमी नशे में आकर्षित होता है। शराब पी ली कुछ घंटों के लिए और भूल गए कि जीवन में कोई चिंता है, कोई फिक्र है, कोई परेशानी है। यह दुख का विस्मरण है, दुख का निवारण नहीं है। चार–छः घंटे बाद नशा उतरेगा और वह पाएगा कि समस्याएं जहां की तहां खड़ी हैं। कोई समस्या दूर नहीं हो गई केवल तुम बेहोश हो गए थे।

यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई सर्जन मरीज का ऑपरेशन करने के पहले एनस्थिसिया दे देता है। फिर उसको पता नहीं चलता उसके हाथ–पैर काट दो, उसके पेट पर चीरा लगा दो, भीतरी अंग निकाल दो, उसे कुछ भी पता नहीं चलता है और न कोई तकलीफ होती है।

इसी तरह नशे की जो आदतें हैं, वह एक प्रकार का सेल्फ एनस्थिसिया का उपाय खोज लिया गया है ताकि हम जीवन के दुख और चिंताओं को भूल जाएं। जब यह मूल कारण पकड़ में आ गया कि क्यों व्यक्ति नशा करता है? अब समझना आसान होगा।

जब तक व्यक्ति का जीवन सुख–शांति से ओत–प्रोत न हो, जब तक उसके जीवन में सत्–चित आनंद न हो, जब तक वह प्रेमपूर्ण ढंग से, प्रसन्नतापूर्वक न जिए; तब तक वह नशे से आकर्षित होगा। अगर सिरदर्द है तो आपको सिरदर्द की गोली खानी ही पड़ेगी।

तो दो ही उपाय हैं– या तो हम गोली खाकर सिरदर्द को भूल जाएं या वास्तव में हम ऐसी जीवन शैली जिएं कि सिरदर्द ही न हो। इसलिए नशों का विकल्प एक ही हो सकता है और वह है ध्यान। हम ध्यान की साधना सीखें, ज्यादा होशपूर्वक जिएं ताकि हम उन चिंताओं से, समस्याओं से, मुसीबतों से निपटें। उसको हम चैलेंज की तरह लें, ताकि हमें विजय प्राप्त हो और तब हम पाएंगे कि हमारा जीवन निश्चिंत हुआ, अब हम बिना फिक्र के जी रहे हैं, आनंदमय हैं, प्रेममय हैं, शांत हैं, सद्भावनाओं से भरे हुए हैं।

ऐसा आनंदित व्यक्ति क्यों नशा करना चाहेगा? याद रहे कि नशे का गुण है भुलाना। अगर कोई व्यक्ति शांत है तो वह शराब पीकर शांति को भूल जाएगा। अगर बेचैन था तो बेचैनी को भूल जाता था। कोई भी शांत व्यक्ति अपनी शांति को नहीं भूलना चाहेगा। कोई भी आनंदित व्यक्ति अपने आनंद को भूलना नहीं चाहेगा।

इसलिए नशों से मुक्ति का इकलौता उपाय है– ध्यान की साधना।

नशा यानी बेहोशी। ध्यान यानी होश। दोनों परस्पर विपरीत हैं। नशा से दुख विस्मरण होता है। ध्यान से दुख विसर्जन होता है।

ध्यानम् शरणम् गच्छामि।
ओशो शरणम् गच्छामि।।

प्रवचन 2

स्वयं की खोज

पहला प्रश्न : एक साधिका ने पूछा है– मैं वर्षों से पूजा–पाठ व प्रार्थना कर रही हूं, प्रभु को पाना चाहती हूं, मगर वह मिलता नहीं, कौन–सी बात बाधा बन रही है? कृपया समझाएं।

मैं मुख्य दो बातों पर इशारा करना चाहूंगा। पहली बात तो हम सोचते हैं कि पूजा–पाठ के द्वारा, परमात्मा की स्तुति के द्वारा हम उसे प्रसन्न कर लेंगे, यह बात गलत है। क्या हमारी खुशामद के बिना वह अप्रसन्न है? और दूसरी बात, प्रभु को अगर हम व्यक्तिवाची रूप में सोचते हैं तो वह भी नासमझी है। इन दोनों पर थोड़ा विमर्श कीजिए।

सामान्यतः हमारे मन में एक बचकानी धारणा बैठी हुई है कि जैसे ईश्वर कोई व्यक्ति है, कहीं सातवां आसमान के पार स्वर्ग में स्वर्ण सिंहासन पर बैठा कोई व्यक्ति है महाशक्तिशाली, सर्वशक्तिमान जिसने दुनिया बनाई; जो दुनिया को चला रहा है। कुछ ऐसी धारणा हमारे मन में बैठी हुई है। क्योंकि बचपन से हमने यही सुना है। हम हिप्नोटाइज्ड हो गए हैं। जैसे कल आप आदतों के गुलाम होने की बात कर रही थीं ना, यह भी एक प्रकार की गुलामी है। सुनी–सुनाई बातों के हम गुलाम हो जाते हैं, उनसे सम्मोहित हो जाते हैं और हमारे भीतर एक मान्यता बन जाती है––बिल्कुल बेबुनियाद अंधविश्वास। आज तक कोई ऐसे ईश्वर से नहीं मिला है। जो लोग कहते हैं कि हमको ईश्वर का दर्शन हो गया, वे बड़े कल्पनाशील, स्वप्नदर्शी लोग हैं। अगर तुम किसी चीज की कामना करते रहोगे तो हो सकता है कि तुम्हें सपने में दर्शन हो जाएं। पर याद रखना, भगवान राम के भक्त को भगवान राम के दर्शन होंगे, ईसा मसीह के कभी नहीं होंगे। ईसा मसीह के भक्त को भगवान कृष्ण के दर्शन कभी नहीं होंगे। क्योंकि उसकी धारणा वैसी है। महावीर के मानने वाले कभी गौतम बुद्ध को नहीं देखेंगे और गौतम बुद्ध के अनुयायी कभी महावीर के दर्शन नहीं करेंगे।

अगर वास्तविक ईश्वर के दर्शन होते तो सबको एक से ही होते। आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ है। ईश्वर का कोई रूप नहीं है, कोई आकार नहीं है तो दर्शन कैसे होंगे?

अब दूसरी बात समझना– हम सोचते हैं कि पूजा–पाठ के द्वारा, अर्थात स्तुति करके, खुशामद करके, उसकी तारीफ करके, प्रार्थना द्वारा हम उसे मना लेंगे। क्या वह हमसे रूठा हुआ है जो हम उसे मना लेंगे? यह बात भी सरासर बेहूदी है और जिन्हें हम प्रार्थना कहते हैं, वास्तव में वे प्रार्थनाएं नहीं, वे याचनाएं हैं, वे हमारी कामनाएं हैं। हम कुछ मांगे चले जा रहे कि हे प्रभु ऐसा कर दे! हे प्रभु वैसा कर दे! अगर कहीं कोई प्रभु है तो हमारी प्रार्थनाएं सुन–सुन कर बेचारा बुरी तरह ऊब गया होगा और भाग खड़ा हुआ होगा।

प्रार्थनाओं में है क्या? मुख्य रूप से दो तत्व हैं– शिकायत और सलाह। चाहे हिंदुओं की, बौद्धों की, जैनों की, ईसाईयों की, या यहूदियों की; किसी की भी प्रार्थना सुन लो। सार संक्षेप में बस दो ही बाते हैं पहले शिकायतों की एक लिस्ट है कि यह–यह गलत हो रहा है, फिर सलाह है। हम मशविरा दे रहे हैं कि हे प्रभु! ऐसा कर दे। और ऐसा–ऐसा मत कर।

तीन बातें हैं प्रार्थना में– स्तुति, शिकायतें और सलाहें। शुरुआत खुशामद से तो करनी होगी। नहीं तो हमारी प्रार्थना सुनेगा क्यों? हम ऐसा व्यवहार कर रहे हैं प्रभु से कि जैसे कोई व्यक्ति हो। हां, अगर किसी राजनेता को फुसलाने जाना है और उससे अपना काम निकलवाना है अथवा किसी अफसर से... तो इसी प्रकार करना होगा। पहले जाकर उनकी तारीफ कीजिए ताकि वह आपकी बात सुनने को तैयार हो जाए। फिर अपनी शिकायतों की लिस्ट पकड़ा दीजिए और फिर बताइए कि आप क्या चाहते हैं। ऐसा–ऐसा हो जाए तो बहुत अच्छा होगा, आपकी बड़ी कृपा होगी।

यही हम परमात्मा के साथ करने का प्रयास कर रहे हैं। अगर हम उसे मशविरा देंगे तो इसका मतलब हुआ कि हम उससे ज्यादा बुद्धिमान हैं। अगर हम शिकायत कर रहे हैं तो हम बता रहे हैं कि तूने जो किया है, वह ठीक नहीं है। अरे भगवान, हमसे पूछ, हमसे सलाह ले और हम बताते हैं कि क्या होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार का कोई परमात्मा, कोई ईश्वर, कोई गॉड दुनिया में नहीं है जो हमारी प्रार्थनाएं सुनेगा और पूरी करेगा। फिर परमात्मा का क्या अर्थ है? शब्द में ही निहित है, परम और आत्मा दो शब्दों से मिलकर बना है। परम यानी दि अल्टीमेट। और आत्मा यानी सेल्फ। तो परमात्मा यानि 'दि अल्टीमेट फ्लॉवरिंग ऑफ दि सेल्फ।' स्वयं का चरम विकास, अपनी चेतना की पूर्ण खिलावट का नाम है परमात्मा।

परमात्मा मनुष्य की एक संभावना है, जैसे बीज के लिए फूल होना एक संभावना है। बीज फूल से प्रार्थना नहीं कर सकता। उसको वास्तविकता बनाना है, उससे प्रार्थना नहीं करना है। इस भेद को खूब अच्छे से याद रखिएगा तब आपको समझ में आएगा कि पूजा–पाठ के द्वारा वह घटना क्यों नहीं घटती जो हम घटाना चाह रहे हैं।

प्रार्थना नहीं करना है, वस्तुतः स्वयं को निखारना है, हमें जीवन को साधना है।

सवाल – गुरु जी, इसका मतलब है कि जिस माहौल में हमारा जन्म हुआ है, हम पले–बड़े हुए हैं और हमने जो बातें सुनीं, उसी के आधार पर हम अपना परमात्मा बना लेते हैं।

हाँ, यह भगवान वह नहीं है, जिसने संसार बनाया। यह भगवान वह है जो हमने बनाया। यह मनुष्य की एक कृति है। यह वह ईश्वर नहीं है, जिसने जगत को रचा। वह तो एक सृजनात्मक ऊर्जा है, एक शक्ति है, कोई व्यक्ति नहीं है। हमने अपने भय और लोभ के आधार पर भगवान बनाया है। यह हमारी व्यक्तिगत धारणा है। इसलिए अलग–अलग मुल्कों में, अलग–अलग समाजों में, अलग–अलग सम्प्रदायों में अलग–अलग धारणाएं हैं। किसी का भगवान कैसा है, किसी और का भगवान बिल्कुल दूसरे ढंग का। क्योंकि लोगों की कामनाओं में भेद हैं। हमारे स्वर्ग–नर्क की धारणाएं भी इसी प्रकार मनोकल्पित हैं।

समझो, हम गर्म देश में रहते हैं तो हम अपने शास्त्रों में स्वर्ग का जो वर्णन पढ़ेंगे, उसमें आएगा कि स्वर्ग बिल्कुल एयर कन्डीशंड है, वातानुकूलित! शीतल पवन वहां हमेशा बहती रहती है। क्योंकि हम गर्मी से परेशान हैं। ठण्डे देश वालों के स्वर्ग के जो वर्णन हैं उनके शास्त्रों में, उनके ग्रंथों में; वह बिल्कुल अलग हैं। उनके स्वर्ग में सदा सूरज चमकता रहता है, हमेशा चमचमाती धूप रहती है, बड़ी गर्मी रहती है। वे लोग बर्फ से परेशान हैं, उनके लिए गर्मी प्राणदायी होगी।

स्पष्ट है कि न तो हमारी धारणा के अनुसार कोई स्वर्ग है, न ही उनकी धारणा के अनुसार। हमारी मान्यताओं से यह तो पता चलता है कि हम क्या चाहते हैं? पर यह नहीं पता चलता कि क्या है। ठीक ऐसे ही ईश्वर की धारणाएं भी हमारी कामनाओं की सूचक हैं।

मनुष्यों को छोड़कर थोड़ा कल्पना करें कि अगर घोड़े और गधे सोचते होते, अगर उन्होंने शास्त्र और सिद्धांत रचे होते तो उनकी धारणा कैसी होती? निश्चित रूप से उनका ईश्वर मनुष्य जैसा तो नहीं होता। मनुष्य ने तो बहुत सताया है जानवरों को। गधों के ऊपर सामान लादकर ले गया है, घोड़ों को कोड़े मारे हैं, तांगे में, इक्के में जोत दिया हैं। उनसे घुड़दौड़ करवाई है, जुआ खेला है। उन बेचारों को बहुत तकलीफ दी गई है। वे तो कभी सोच भी नहीं सकते मनुष्य की रूपरेखा में कोई भगवान होगा।

वैसी कल्पना तो उनकी शैतान की होगी... मनुष्य उनकी दृष्टि में राक्षस और शैतान नजर आता होगा। जिसके हाथ में कोड़ा है और जो उनको मार रहा है, पीट रहा है, उन पर वजन लाद रहा है और ढो रहा है। घोड़े और गधों की मान्यता बिल्कुल भिन्न होगी। उनके लिए एक सुंदर अरबी घोड़ा, महाशक्तिशाली, सर्वव्यापी, सर्वदृष्टा घोड़ा, जो मनुष्यों का संहार कर दे, ऐसा एक चमत्कारी घोड़ा... वह उनका देवता होगा, वह उनका ईश्वर होगा। गधे अगर सोचते होंगे तो यही सोचते होंगे कि ऐसा अद्‌भुत गधा, सर्वशक्तिमान, जिसके

हाथों में जादुई हथियार है और जिसने पूरी मनुष्य जाति का, यानी दुष्टों का, शैतानों का सर्वनाश कर दिया। तब गधों के साम्राज्य में शांति छा गई। सब सुख-चैन से रहने लगे। ऐसा गधा उनका परमेश्वर होगा।

क्या ये सारी धारणाएं बचकानी नहीं? ये तो हमारे भय और लोभ पर आधारित हैं। इसका सत्य से कुछ लेना देना नहीं है।

सवाल : इसका मतलब परमात्मा यानि अपनी टोटल बिइंग में जीना। अगर सभी अपने स्वभाव में जीना सीख लें तो फिर परमात्मा को जानने की सबके भीतर संभावना है। हर व्यक्ति अपनी पोंटैन्शियलिटी को रियालिटी बना सकता है। क्या यह सच है?

हां, बिल्कुल सच है। वास्तविक परमात्मा जिसको हम कह रहे हैं आत्मा का परम रूप। वह गधे के भीतर भी है, घोड़े के भीतर भी है, मनुष्य के भीतर भी। सब के भीतर है, एक संभावना की भांति। जस्ट लाइक ए पोटैंशियलिटी, नॉट एक्चुअलिटी। उसको हम विकसित करेंगे तो उसकी फ्लॉवरिंग होगी। वह अपनी पूर्ण खिलावट में प्रगट होगा। हमारी भीतर सोई चेतना अपनी संपूर्ण महिमा में प्रगट होगी।

दूसरा प्रश्न : यह सवाल हमारे चैनल के किसी जिज्ञासु दर्शक ने भेजा है। वे लिखते हैं कि मेरे मन में कई कामनाएं हैं, परमात्मा को जानने की भी इच्छा है; किंतु यह इच्छा पूरी होती दिखाई नहीं देती। ऐसा क्यों?

कई कामनाओं में से एक कामना है परमात्मा को जानने की, साधना करने की, ध्यान में डूबने की। इस प्रकार कुनकुने अगर चले तो बात नहीं बनेगी। तुम्हारी टोटलिटी, तुम्हारी समग्रता चाहिए। पूर्णता से अगर तुम चहोगे तो बात बन सकेगी। याद रखना यहां चाह का मतलब मैं साधना की तरफ इशारा कर रहा हूं। तुम्हारे मन में हजार वासनाएं हैं, लंबी लिस्ट है और उस सूची में शायद ईश्वर का अंतिम नम्बर है। सबसे अंतिम क्रमांक है परमात्मा का। तुम्हारी सारी ऊर्जा इस प्रिफरेंस लिस्ट में जो सर्वोपरी है, उन आकांक्षाओं को चली जाएगी। नीचे वालों का तो कभी नम्बर ही नहीं आएगा। जिंदगी छोटी है, सूची बड़ी है।

तुमने न तो परमात्मा को अर्जेंट समझा है और न इंपॉर्टेंट समझा है। तुम्हारी इस लिस्ट में बहुत सी चीजें हैं जो बहुत अर्जेंट हैं। तुम पहले उन पर ध्यान दोगे। बहुत सी चीजें जो अर्जेंट नहीं हैं लेकिन तुम्हारे लिए बहुत इंपॉर्टेंट है। परमात्मा लिस्ट में बहुत पीछे और नीचे

कहीं है। जिन्दगी गुजर जाएगी... जिन्दगी बहुत छोटी है। शायद उस सीढ़ी पर, उस सोपान पर तुम कभी पहुंच न पाओ, इतनी फुर्सत कभी मिलेगी ही नहीं।

इस बात को समझना। अगर तुम चाहते हो किसी चीज को समग्रता से टोटलिटी से, उसको मोस्ट अर्जेंट और मोस्ट इंपार्टेंट जानते हो, तब वह उपलब्धि संभव है, अन्यथा वह कभी नहीं होगी। बहुत लोग हैं दुनिया में जिनकी हजारों कामनाओं में एक कामना प्रभु को पाने की भी है। इस प्रकार बात नहीं बनेगी। मिर्जा गालिब का प्रसिद्ध शेर आपने सुना होगा–

हजारों ख्वाहिशें ऐसी, कि हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।।

गालिब की जो मनस्थिति है वही दुनिया में असंख्य लोगों की है। हजारों ख्वाहिशें। एक ख्वाहिश उत्तर खींच रही है, दूसरी दक्षिण खींच रही है। कोई पूरब ले जाना चाह रही, कोई पश्चिम ले जाना चाह रही। कोई ऊपर उठाना चाह रही, कोई नीचे गिराना चाह रही। बड़ी खींचा–तानी मची हुई है। हजारों तमन्नाएं हैं––परस्पर विरोधी दिशाओं में संलग्न हैं।

ऐसा समझो कि एक बैलगाड़ी में चारों दिशाओ में बैल जोत दिए। ये बैलगाड़ी क्या अपनी मंजिल तक कभी पहुंच पाएगी? कभी नहीं। ये तो वहीं टूट–फूट के नष्ट हो जाएगी। हमारी अनंत कामनाएं हमें भिन्न–भिन्न दिशाओं में और आयामों में खींच रही हैं और हमारी जीवन ऊर्जा को नष्ट कर रही हैं। इस प्रकार तो यात्रा नहीं हो सकती। न बाहर की और न भीतर की। परमात्मा को पाने की अंतर्यात्रा नामुमकिन है।

वह तो तब मुमकिन है जब सब ख्वाहिशों में जो ऊर्जा लगी है, वह सम्मिलित होकर, संगठित होकर एक दिशा में लग जाए। इन सारे बैलों को बैलगाड़ी में एक दिशा में जोता जाए तब जाकर हमारी जीवन–गाड़ी परम मंजिल तक पहुंच पाएगी। 'पथ के प्रदीप' नामक पत्र संकलन में सद्गुरु ओशो का यह अद्भुत वचन है, जिसमें आपके प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा। मैं वह पत्र आपको पढ़कर सुनाता हूं–

'सत्य की साधना सतत् है। श्वास–श्वास जिसकी साधना बन जाती है, वही उसे पाने का अधिकारी होता है। सत्य की आकांक्षा अन्य आकांक्षाओं के साथ एक आकांक्षा नहीं है। अंश मन से जो उसे चाहता है, वह चाहता ही नहीं। उसे तो पूरे और समग्र मन से ही चाहना होता है। मन जब अपनी अखण्डता में उसके लिए प्यासा होता है, तब वह प्यास ही सत्य तक पहुंचने का पथ बन जाती है।

स्मरण रहे कि सत्य के लिए प्रज्ज्वलित प्यास ही पथ है। प्राण जब उस अनंत प्यास से भरे होते हैं और हृदय जब अज्ञात को खोजने के लिए ही धड़कता है, तभी प्रार्थना प्रारंभ होती है। श्वासें जब उसके लिए ही आती–जाती हैं तभी उस मौन अभिप्सा में ही परमात्मा की ओर

पहले चरण रखे जाते हैं। प्यासा प्रेम ही उसे पाने की पात्रता और अधिकार है।'

तीसरा प्रश्न : सद्गुरु, स्वयं को कैसे खोजा जा सकता है?

स्वयं को खोजना सर्वाधिक कठिन भी है और सर्वाधिक सरल भी है। मेरी बात आपको विचित्र लगेगी। सर्वाधिक कठिन इसलिए है क्योंकि हमारी सारी इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं। हम आंखों के माध्यम से बाहर देखते, कानों के माध्यम से बाहर की सुनते, हाथों से बाहर का स्पर्श करते हैं, हम बाहर का स्वाद, बाहर की सुगंध लेते हैं। अपने भीतर भी कुछ है, इसका हमें ख्याल ही नहीं आता; क्योंकि भीतर कोई इंद्रिय नहीं है। इसलिए कठिन है।

चूंकि हमारी इन्द्रियां बाहर खुलती हैं, हम बहिर्मुखी हो जाते हैं। हमारी चेतना बाहर–बाहर को दौड़ती है और संसार में अंतहीन टारगेट्स हम बना लेते हैं। हमारी कामनाएं बाहर फैल जाती हैं, यह पाना है, वह भी पाना है, यह करना है, वह भी करना है। हमारा सारा जीवन उनमें व्यस्त हो जाता है––यहां जाना है, वहां भी पहुंचना है। हम भूल ही जाते हैं कि इन इन्द्रियों के पीछे छुपा हुआ कोई मेरा वास्तविक स्वरूप भी है।बहिर्मुखता, अशांति और दुख लाती है। आज तक कोई व्यक्ति संसार में दौड़–दौड़ कर शांत और सुखी नहीं हुआ। परेशान होता है, व्यथित होता है, आकुल–व्याकुल होता है, थक जाता है, कुछ हासिल नहीं होता है, अंततः निराशा के गर्त में गिरता है।

यही बात फिर उसे भीतर मोड़ने वाली बनती है। बाहर संसार में कामनाओं के पीछे दौड़ते–दौड़ते जो थक गया है, फिर उसे ख्याल आना शुरू होता है, कहीं मुझसे कोई भूल तो नहीं हो रही है। कहीं मैं क्षितिज पकड़ने तो नहीं दौड़ रहा। लगता है दूर... थोड़ी दूर होगा वह स्थान जहां जमीन और आकाश मिलते हैं। लेकिन वास्तव में तो ऐसा कोई स्थान है नहीं। मैं कितना भी दौड़ूं कभी नहीं मिलेगा।

...और तब व्यक्ति ठहर जाता है और रुक जाता है और उसकी बहिर्गामी ऊर्जा अंतर्मुखी हो जाती है। जीवन–शक्ति के स्वयं पर लौटने पर आत्मज्ञान घटता है। कोई उसे प्रभु मिलन भी कह सकता है, कोई इसे ईश्वर का साक्षात्कार कह सकता है, कोई उसे आत्मरमण की अवस्था कह सकता है, कोई उसे ब्रह्मज्ञान कह सकता है। बात एक ही है। विभिन्न धर्मों में उस आनंदमय स्थिति के भिन्न–भिन्न नाम हैं, किंतु उन नामों के पीछे छिपा भावार्थ वही है––परमानंद, सच्चिदानंद, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, एनलाइटेनमेंट, सेल्फ रियलाइजेशन, अथवा कुछ अन्य नामकरण भी संभव हैं। नामों और शब्दों में न उलझकर, उस परम सत्य की तलाश में समग्रता से लगो। बस, यही सार्थक बात है। **जय ओशो!**

✐–जय ओशो

प्रवचन 3

ईश्वर एक विवाद अनेक

पहला प्रश्न : गुरुदेव, अन्य धार्मिक लोगों की तरह मेरे अंदर भगवान की खोज, परलोक की जिज्ञासा आदि क्यों नहीं है?

मजेदार सवाल पूछा है आपने। तथाकथित ईश्वर एवं परलोक की जो धारणाएं प्रचलित हैं, उनकी जिज्ञासा किन्हीं नासमझ लोगों के मन में ही हो सकती है। जैसे-जैसे शिक्षा का विकास हुआ, लोगों की बुद्धिमत्ता बढ़ी, लोग ज्यादा प्रज्ञापूर्ण और विवेकवान हुए, तार्किक सोच-विचार की शक्ति पैदा हुई, वैसे-वैसे ईश्वर में लोगों की रुचि खत्म हो गई है। इस बात को दुर्भाग्य की भांति मत लेना, यह सौभाग्य की घटना है। इससे पता चलता है कि लोग पहले से ज्यादा इंटेलिजेंट हो गए हैं। अब व्यर्थ की बातों में उनकी उत्सुकता नहीं रही।

अतः इसको दुर्भाग्य नहीं समझना। मैं मानता हूं कि आप बुद्धिमान हैं। जिस प्रकार भगवान की, ईश्वर की धारणाएं विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों में फैली हुई हैं, उनको सुनकर, उनको पढ़कर तो बुद्धिमान व्यक्ति उनसे दूर खिसक जाएगा, दूर हट जाएगा। धार्मिक लोगों ने इस दुनिया में जो किया है, याद रखना पिछले तीन हजार साल में पंद्रह हजार युद्ध हुए हैं और इनमें से अधिकांश युद्ध धर्म के नाम पर, शास्त्र के नाम पर, सिद्धांत के नाम पर हुए हैं। इतना खून-खराबा, इतने दंगे-फसाद, इतनी मार-काट हुई है धर्म के नाम पर, सिद्धांत के नाम पर कि बुद्धिमान आदमी अब धर्म के नाम से ही घबराता है। उसके भीतर वह जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं होती।

सद्गुरु ओशो ने हमें दूसरा भावार्थ बताया है ईश्वर का--परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि गुणवत्ता है। हमसे बाहर कहीं दूर नहीं, हमारे भीतर मौजूद है। वह ओमनी प्रजेंट, सर्वव्यापी है। और हमारे भीतर जो है, वह निकट से निकट है। उसको जाना जा सकता है। वह गुण क्या है? वह क्वालिटी क्या हैं? वह है सत्य, वह है चैतन्य, वह है आनंद, वह है शांति, वह है प्रीति, वह है मुक्ति, वह है सत्यम्, वह है शिवम्, वह है सुंदरम्।

ऐसा कौन व्यक्ति न होगा जो जीवन के परम सौन्दर्य को ना पाना चाहे, ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो आनंद को ना पाना चाहे। उस शब्द को जरा बदल दो। भगवान को पाने की

चाहत नहीं है, वह तथाकथित धर्मों की बकवास सुन कर! क्या तुम्हारे भीतर आनंद पाने की चाहत नहीं है, क्या तुम शांत होना नहीं चाहते, क्या तुम सुखी होना नहीं चाहते, क्या तुम ज्यादा प्रेमपूर्ण जीवन जीना नहीं चाहते, क्या तुम सदभावनाओं में डूबना नहीं चाहते?

दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो शांत होना ना चाहे, आनंदित होना ना चाहे, जो प्रेम पाना और देना ना चाहे। नामकरण परिवर्तित कर दो। निश्चित रूप से भगवान शब्द की आड़ में जो हुआ है वह बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं रहा और आज का सभ्य–सुशिक्षित आदमी इससे दूर हटना चाहेगा। ऐसा होना स्वाभाविक है।

कोई आश्चर्य नहीं कि पिछली सदी में करीब–करीब आधी मनुष्यता ने कम्युनिज्म को अपना लिया जो कि घोर नास्तिक सिद्धांत है। यह बिल्कुल स्वभाविक था। शिक्षित मनुष्य जाति ऐसा ही करेगी। अपेक्षित था कि ऐसा ही होगा। शिक्षा का और विकास होगा तो मैं मानता हूं कि बाकी जो पचास प्रतिशत लोग बचे हैं इनमें से अधिकांश लोग धर्म के नाम से चिढ़ने लगेंगे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वास्तविक भगवत्ता से अरुचि उत्पन्न हो गई। वह तो सत्यम् शिवम् सुंदरम् है। सुंदरम् में किसकी रुचि नहीं है? शिवम् में किसकी रुचि नहीं है? कौन क्षणभंगुर सपनों से राजी होगा और शाश्वत सत्य को पाना न चाहेगा। तब तो सारी बात बदल गई।

इसलिए भगवान को एक पर्सनालिटी की तरह नहीं, एक क्वालिटी की तरह लें और यह बीज रूप में हमारे भीतर मौजूद है। हम उसे विकसित कर सकते हैं। थोड़ा ध्यान का खाद–पानी देंगे तो यह पौधा अंकुरित होने लगेगा। वह सौंदर्य की भावना हमारे भीतर है, वह आनंद छोटे रूप में मौजूद है। उन्हें विकसित किया जा सकता है। शांति के कुछ क्षण हमने जीवन में जाने हैं। इन क्षणों को घंटा बनाया जा सकता है, फिर दिन बनाया जा सकता है, सप्ताह बनाया जा सकता है, पूरा साल बनाया जा सकता है, पूरी उम्र बनाया जा सकता है। तो भगवान शब्द को सद्गुरु ओशो ने भगवत्ता से रिप्लेस कर दिया। नॉट पर्सनॉलिटी बट क्वालिटी, और तब तुम पाओगे कि यह सहज स्फूर्त, जिज्ञासा तुम्हारे भीतर है, यह सबके भीतर है। इसके बिना कोई उत्पन्न ही नहीं होता।

गुरु जी, इसका मतलब कि यह एक एब्स्ट्रैक्ट नाऊन है और इसको सिर्फ फील कर सकते हैं, क्या देख नहीं सकते हैं?

नाऊन की बजाय मैं कहना चाहूंगा भर्ब। जब हम नाऊन कहते हैं तो ऐसा लगता है कोई चीज जो हो चुकी है जो कहीं मौजूद है। नाऊन हमेशा किसी चीज का नाम होता है, जो कहीं लोकेटेड है। हम कहें कि सोनीपत जिला कहां है? तो हम नक्शे में बता सकते हैं कि यहां है। सोनीपत क्या है? वह जो पानीपत नहीं है, जो दिल्ली नहीं है, वह सोनीपत है।

परमात्मा की ऐसी परिभाषा नहीं हो सकती। इसलिए उसका नामकरण नहीं हो

सकता। क्योंकि उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। परमात्मा यानि सब कुछ। तो बाहर उसके कुछ बचा नहीं, जो उसकी रूपरेखा बनाए या आकृति बनाए। इसलिए उसको बताया नहीं किया जा सकता कि कहां है? जो सर्वव्यापी है, वह एक जगह बताया नहीं जा सकता कि कहां है? तो उसको नाऊन कहना उचित नहीं होगा व्याकरण के हिसाब से। न तो उसका नाम हो सकता है और न उसकी स्थिति हो सकती है।

यदि आपसे पूछें कि प्रेम कहां है? तो आप कहां बताएंगे कि कहां है? प्रेम एक भावना है, कोई व्यक्ति नहीं है, वस्तु नहीं है कि कहीं रखी हुई है। जिसकी हम परिभाषा कर सकें कि यहां से यहां तक प्रेम है और इसके बाद से कुछ और शुरू होता है। ऐसा नहीं है... बस एक क्वालिटी है। हम पूछें कि जीवन कहां है? जीवन की परिभाषा क्या है? तब बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाएगी। जीवंतता है, मुझमें भी है, आप में भी है, सब में है। पशु-पंक्षियों में है, पेड़-पौधों में है, कीट-पतंगों में है, सागर के जीव-जंतुओं में है। बैक्टीरिया और वाइरस में है। और इस पृथ्वी से दूर अन्य ग्रहों पर हम जानते भी नहीं किन-किन रूपों में होगी!

वह जीवंतता, वह एलाइवनेस. नाऊन या संज्ञा तो कह नहीं सकते उसको। अगर कहना ही है तो वर्ब या प्रक्रिया कह लो। हो रही है, ऐसा नहीं कि वह हो चुकी है। हो रही है। जैसे हम कहते हैं कि नदी है, कहने में तो ऐसा लगता है कि नदी एक नाऊन है, एक संज्ञा है। यह गंगा नदी है, वह यमुना नदी है। हमने नामकरण कर दिया। लेकिन वास्तव में नदी क्या है? जल का प्रवाह, एक क्रिया है जो सतत घट रही है। अगर यह बहना बंद हो जाए फिर यह सरिता नहीं कहलाएगी। यह पानी... सड़ा-गला तालाब बन जाएगा।

हमारी व्याकरण में थोड़ी-सी भूलचूक है। बहुत सी क्रियाएं हैं जिनको हम संज्ञा की भांति उपयोग करते हैं। भगवान बुद्ध ने अद्‌भुत किया, उन्होंने तो संज्ञाओं को हटा ही दिया। इसलिए जिन देशों में बौद्ध धर्म से प्रभावित भाषाएं विकसित हुईं, वहां पर संज्ञाएं हैं ही नहीं। आप ऐसा नहीं कह सकते कि यह वृक्ष है। ऐसा कोई शब्द ही नहीं है--'है'। आपको यह कहना होगा कि वृक्ष हो रहा है। और वास्तव में यर्थाथ यही है, वृक्ष हो रहा है। है कहां? घंटे भर पहले जो पत्ती निकली थी, अब वह और बड़ी हो गई, घंटे भर पहले जो पत्ती बूढ़ी हो चुकी थी, वह पीली पड़ गई, घंटे भर पहले जो पत्ती पीली थी, वह झड़ गई, गिर गई। नई कोपलें फूट आईं। जो कली थी, वह फूल बन गई, जो फूल था, वह मुरझा गया। वृक्ष हो रहा है, है नहीं।

ऐसे ही मनुष्य भी हो रहा है। चांद-तारे हो रहे हैं, है कुछ भी नहीं। तो संज्ञा की बजाय उसको हम क्रिया के रूप में देखें तो ज्यादा बेहतर होगा।

गुरु जी, जैसे परमगुरु ओशो अक्सर कहते हैं कि अपने आप को जानो, पूछो कि मैं कौन हूं? तो जानने के बाद, उस

भगवत्ता को पहचानने के बाद फिर बोल सकते हैं कि हां, सब जगह है। कहां है? सब जगह है। तो ऐसा कैसे होता है?

सबसे पहले अपने भीतर ही एहसास होगा। जैसे मैं जीवन की बात करूं तो मैंने अगर अपने भीतर जीवंतता को अनुभव किया तो यह स्पष्ट ही हो गया कि सबके भीतर भी वही है, मैं कोई स्पेशल नहीं हूं। तो जब कोई सद्गुरु कहता है कि मैं भगवान हूं, तो याद रखना वह कोई अपनी विशेषता की घोषणा नहीं कर रहे हैं कि मैं कुछ विशिष्ट हूं। वे कह रहे हैं कि तुम भी भगवान हो। अहम् ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि। उसके अलावा और कोई है ही नहीं। बस वही है। इस भांति से उसको समझिएगा।

दूसरा प्रश्न : एक दर्शक ने ई–मेल के द्वारा पूछा है कि गुरुदेव, सभी संप्रदाय कहते हैं कि ईश्वर एक है, फिर इस संबंध में इतने वाद–विवाद क्यों है?

वाद–विवाद ईश्वर के बारे में नहीं, बल्कि वहां तक पहुंचने के जो द्वार हैं, जो रास्ते हैं उनके बारे में है। संप्रदाय शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है; वह है– राह, मार्ग, रास्ता। जैसे कि हम पूछें कि हिमालय के सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट पर पहुंचने की कितने मार्ग हो सकते हैं, कितनी दिशाओं में हम यात्रा करके वहां पहुंच सकते हैं? निश्चित ही अगर भारत से किसी को यात्रा करनी है तो उत्तर की ओर मुंह करके पहाड़ पर चढ़ना होगा। चीन से कोई आ रहा है तो उसको दक्षिण की तरफ मुंह करके पहाड़ पर चढ़ना होगा। दोनों की दिशाएं बिल्कुल विपरीत हो जाएंगी। क्योंकि उनके स्टैण्ड प्वाइंट बिल्कुल अलग–अलग हैं। जहां से हम यात्रा शुरू कर रहे हैं, उस पर निर्भर करेगा कि हम कहां खड़े हैं। एवरेस्ट तो एक ही है, लेकिन उस तक पहुंचने के रास्ते हजारों हैं और हजारों हो सकते हैं। वह निर्भर करेगा कि व्यक्ति कहां से आरंभ कर रहा है।

हिमालय पर आरोहण हेतु यूरोप से कोई आ रहा है तो वह अलग दिशा से आएगा, नेपाल से कोई चला तो अलग दिशा से आएगा। तिब्बत से कोई चढ़ा तो उसकी दिशा अलग होगी। मार्ग भी भिन्न होगा, मार्ग के दृश्य भी अलग होंगे, आने वाली कठिनाईयां अलग होंगी, उनको पार करने के उपाय अलग होंगे। सब कुछ अलग–अलग होगा। हां, यह बात अलग है कि एवरेस्ट शिखर पर पहुंचकर वे सब एक ही अनुभव को पाएंगे। लेकिन रास्ते तो बिल्कुल अलग–अलग होंगे।

ठीक इसी प्रकार उस परमतत्त्व तक पहुंचने के रास्ते अलग–अलग हैं। मार्ग विभिन्न, मंजिल अभिन्न। संप्रदाय यानि रास्ता, संप्रदाय यानि मार्ग। इसमें मंजिल की बात नहीं है। मंजिल तो एक है, वह है आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान या जो भी नाम दो वह तो एक ही है, उसका

अनुभव एक ही है। लेकिन वहां तक पहुंचने के बहुत रास्ते हो सकते हैं। ध्यान की अनेक विधियां हो सकती हैं। योग के मार्ग हो सकते हैं, भक्ति के मार्ग हो सकते हैं, तंत्र साधना के रास्ते हो सकते हैं। हजारों-हजारों मार्ग दुनिया में खोजे गए हैं। निश्चित रूप से मार्ग में तो भिन्नता है। आपको कोई खास जगह जाना है, आप साइकिल से जा सकते हैं, हवाई जहाज से जा सकते हैं, पैदल जा सकते हैं, घुड़सवारी करके जा सकते हैं, नाव से यात्रा कर सकते हैं, समुद्री जहाज में यात्रा कर सकते हैं। बहुत उपाय हो सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि हम अलग-अलग मंजिलों की बात कर रहे हैं।

हाँ, जिन साधनों का हमने प्रयोग किया वे भिन्न-भिन्न हैं।

सद्‌गुरु ओशो की एक किताब का शीर्षक है--'समाधि के सप्त द्वार'। मुख्य रूप से सात रास्ते हो सकते हैं परमात्मा के मंदिर में प्रवेश के। तो उनमें भिन्नता है, वे अलग-अलग हैं। वाद-विवाद उनके संबंध में लोग कर रहे हैं। विद्वानगण गलती में हैं कि वे मंजिल के बारे में विवाद कर रहे हैं। इस संदर्भ में मैं एक पत्र आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा जो कि 'पथ के प्रदीप' नामक पुस्तक में संकलित है।

'सत्य एक है, उस तक पहुंचने के द्वार अनेक हो सकते हैं। पर जो द्वार के मोह में पड़ जाता है, वह द्वार पर ही ठहर जाता है और सत्य के द्वार उसके लिए कभी नहीं खुलते हैं। सत्य सब जगह है। जो भी है सभी सत्य है। उसकी अभिव्यक्तियां अनंत हैं, वह सौंदर्य की भांति ही है। सौंदर्य कितने रूपों में प्रगट होता है, लेकिन इससे क्या वह भिन्न-भिन्न हो जाता है? जो रात्रि तारों में झलकता है और जो फूलों में सुगंध बनकर झरता है और जो आंखों में प्रेम बनकर प्रगट होता है, वह क्या अलग-अलग हैं। रूप अलग है, पर जो उनमें स्थापित होता है वह तो एक ही है। किंतु जो रूप पर रुक जाता है वह आत्मा को नहीं जान पाता और जो सुंदर पर ठहर जाता है, वह सौंदर्य तक नहीं पहुंच पाता है। ऐसे ही जो शब्द से बंध जाते हैं वे सत्य से चूक जाते हैं। जो जानते हैं, वे राह के अवरोधों को सीढ़ियां बना लेते हैं और जो नहीं जानते, उनके लिए सीढ़ियां भी अवरोध बन जाती हैं।'

तीसरा प्रश्न : प्रोफेसर डॉ. एन.डी. तिवारी पूछते हैं कि सभी धर्मों के सिद्धांतों में इतनी भिन्नता है कि शास्त्र पढ-पढ़ कर कंफ्यूजन पैदा हो गया है कि अब यही समझ नहीं आता कि किस प्रकार के परमात्मा को खोजा जाए?

प्रोफेसर साहब से यह कहना कि आप बड़े बुद्धिमान हैं, जिनको कंफ्यूज़न का एहसास हो रहा है। अधिकांश पढ़े-लिखे लोग, पी.एच.डी. और डी.लिट. की डिग्रियां धारण करने वाले, कई शास्त्रों और ग्रंथों का अध्ययन-मनन करने वाले कंफ्यूज्ड होते हैं; लेकिन उन्हें कंफ्यूज़न का भी एहसास नहीं होता। उनकी बड़ी दुर्गति हो जाती है। उन्हीं शास्त्रों, उन्हीं सिद्धांतों उनकी बकवासों में वे उलझ जाते हैं। उनका दिमाग कन्टीन्युअस इनर चैटिंग, निरंतर अंतर्वार्तालाप करता रहता है। जैसे कई चीजें किसी के भीतर हमने रिकार्ड कर दी हों, कई सी. डी. प्लेयर एक साथ चल रहे हों ऐसी उनकी अवस्था हो जाती है। इसलिए बहुत प्रकाण्ड पंडित जो होते हैं शास्त्रों के, ग्रंथों के ज्ञाता उनके भीतर से कॉमन सेंस भी खत्म हो जाता है।

आप तिवारी जी को ई-मेल भेजकर बधाई देना, कि उनका कॉमन सेंस बचा हुआ है। उनको अपने कंफ्यूज़न का पता चल रहा है। एक बात तो सिद्ध हो गई कि शास्त्रों से, सिद्धांतों से, शब्दों के ज्ञान से वह परम सत्य नहीं मिलता, जिसे परमात्मा कहा जाता है। क्योंकि उसके पाने का मार्ग शब्दों को छोड़कर निःशब्द मौन में डुबकी है।

वह सिद्धांतों से नहीं मिलता, सिद्ध अवस्था प्राप्त करने से मिलता है। सिद्धांत तो बाधा है, वे तो राहों के अवरोध हैं। वे मार्ग नहीं बनेंगे। ग्रंथ और शास्त्र नहीं, वरन् सब शास्त्रों से मुक्ति। तुम्हारे भीतर सन्नाटा छा जाए, मौन घटे, उसमें परमात्मा का संगीत, अनहद नाद गूंज उठता है, तब प्रभु मिलन होता है।

अतः अच्छा ही है कि तुम्हें अपने कंफ्यूज़न का एहसास हो रहा है। आधा काम तो हो गया। अब आधी बात मेरे कहने से तुम्हें समझ में आ जाएगी। यह तो सिद्ध अपने आप हो गया कि किताबों से नहीं मिलता। अब दूसरी बात भी समझना आसान हो जाएगा कि किताबों के त्याग से, भाषा के त्याग से, मन के त्याग से वह मिलता है। वह मनातीत, शब्दातीत मौन में तुम्हारे भीतर मौजूद है। चलो एक लतीफा हो जाए....

विश्वविद्यालय में कृषि विभाग के अध्यक्ष महोदय पहली बार गांव जाकर किसानों से 4 घंटे मिले। 3 घंटे तो किसान उन्हें यह समझाते रहे कि गेहूँ का कोई पेड़ नहीं होता। अंतिम एक घंटे में कुछ ऐसे वार्तालाप हुए-

सब्जी की खेती करने वाले से पूछा- यह क्या है, किस रेट में बिकती है? किसान- जी यह गवार फली है। 100 रुपये में एक किलो बिकती है।

अध्यक्ष- अरे, गवार होने पर भी इतने अच्छे रेट मिल जाते हैं। सोचो, पढ़ी-लिखी होती तो कितना भाव खाती! अच्छा यह काली-कलूटी गंदी चीज क्या है, इसकी कीमत?

किसान- जी, काली मिर्च है। 1000 रुपये किलो।

अध्यक्ष- वाह! सोचो, अगर गोरी होती तो कितना भाव खाती! इस पर फेयर एंड लवली लगाकर बेचो, अमीर हो जाओगे। अरे, हम युनिवर्सिटी वालों से कुछ ज्ञान लो।

प्रवचन 4

विज्ञान और अध्यात्म का ज्ञान

पहला प्रश्न : एक साधक का ईमेल आया है– परम सद्‌गुरु ओशो द्वारा ध्यान को छलांग कहने का अभिप्राय क्या है?

छलांग शब्द बड़ा प्यारा है। आधुनिक विज्ञान में भी अब इसका उपयोग होने लगा है। क्वांटम लीप की तरह, एक छलांग। हमारा जीवन आज तक जिस ढंग से चलता आ रहा था, एक पैटर्न में, एक मैकेनिकल ढंग से, यांत्रिकता के वशीभूत होकर। अगर इस चक्रव्यू के बाहर निकलना है तो अचानक छलांग लेनी होगी। अगर हमने धीरे-धीरे कुछ करने की कोशिश की तो हम उस चक्रव्यू के बाहर नहीं निकल पाएंगे। हम उसमें ही उलझे रहेंगे।

छलांग कहने का तात्पर्य है, एक डिसकंटीन्युटी, अभी तक जो हो रहा था, जिस ढंग से मैं जीवन जी रहा था वह मूर्च्छित जीवन था। मैं एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रमाद में जी रहा था। मेडिटेशन एक छलांग है, यह कहने का तात्पर्य है कि अचानक जागरण। ऐसा समझो एक आदमी सो रहा है और सपने में खोया हुआ है। अगर सपने की कंटीन्युटी चलती रहे, एक के बाद दूसरा सपना सतत् बना रहे तो जागरण नहीं होगा। जागरण जब भी घटित होगा, ऐसा लगेगा कि अचानक सपने से छलांग लग गई। सपनों का वह प्रवाह अचानक टूटा और आंखें खुल गईं और बाहर जो सत्य था उससे परिचित हुए हम जाग गए। इस अनुभव को हम रोज जानते हैं, रात नींद में सपनों का प्रवाह चलता रहता है, एक मैकेनिकल कंटीन्युटी बनी रहती है। एक सपने के बाद दूसरा सपना, फिर तीसरा सपना। नींद में हम खोए हुए हैं। फिर समझो अचानक किसी ने आवाज दी या अलार्म की घंटी बजी और हम चौंककर जाग गए। क्या यह उस स्वप्निल अवस्था से अचानक छलांग नहीं हुई? यह उस स्वप्निल अवस्था की कंटीन्युटी नहीं है।

ठीक ऐसे ही एक और परम जागरण घटित होता है, जिसमें आत्मज्ञान फलित होता है, वह मेडिटेशन के द्वारा, ध्यान के द्वारा होता है। इसलिए परमगुरु ओशो जब कहते हैं कि ध्यान एक छलांग है तो उनका यही तात्पर्य है कि जिस ढंग का मूर्च्छित जीवन हम जन्मों-जन्मों से जीते चले आ रहे थे, अचानक वह पैटर्न टूट जाएगा और हम उसके बाहर छलांग लगा जाएंगे, क्वांटम लीप घटित होगी। यह भाव है छलांग कहने का।

गुरु जी, शुरु में तो इसका प्रयास करना पड़ेगा ध्यान के लिए। बाद में तो फिर एफर्टलैस हो जाता है।

शुरुआत में तो कोशिश होगी, हम प्रयास करेंगे, श्रम करेंगे। लेकिन जब उसका परिणाम आएगा तो उसका हमारे प्रयास से भी कोई संबंध नहीं रहेगा। यह बात थोड़ी–सी जटिल है समझने में। मैं एक–दो उदाहरण से समझाने की कोशिश करता हूं। ऐसा समझें कि एक आदमी प्रयास कर रहा है कि सूरज के दर्शन करे। उसने कोशिश की अपने तरफ से वह सुबह से जाग कर बैठा हुआ है। उसने दरवाजे खिड़कियां खोल रखी हैं, परदे खिसका रखे हैं और इंतजार कर रहा है, कि अब सूरज उगे... अब सूरज उगे। सूरज उगेगा; लेकिन याद रखना उसके प्रयत्न के परिणाम से नहीं। वह यह नहीं कह सकता कि मैंने सूरज को उगा दिया। सूरज तो अपनी मौज से उग रहा है, अपने नियम से चल रहा है।

हां, यह व्यक्ति चूक सकता था। अगर वह द्वार, दरवाजे बंद करके कंबल ओढ़कर सोया रहता, सपनों में खोया रहता तो उसे कभी पता न चलता कि सुंदर सूर्योदय हो भी गया। रोशनी उसके जीवन में, उसके कमरे में प्रवेश न कर पाती। तो वह अंधकार में ही रहता। क्या हम कहेंगे कि उसके प्रयास ने, उसके खिड़की खोलने ने, उसके आंख खोलने ने सूरज को उगा दिया? इनमें कोई कॉज एंड इफैक्ट का, कार्य–कारण का नाता नहीं है। इसलिए मैंने कहा कि बात थोड़ी–सी जटिल है। साधना के द्वारा परम सत्य हासिल नहीं होता। साधना के द्वारा हम संवेदनशील हो जाते हैं कि उसे हम ग्रहण कर सकें। यानी हमारे खिड़की और द्वार–दरवाजे खोलने से परमात्मा नहीं मिल जाता। लेकिन हम संवेदनशील हो जाते हैं कि हम परमात्मा को ग्रहण कर सकें, हम सत्य का ज्ञान कर सकें।

अक्सर लोग समझते हैं कि साधना के द्वारा हम उसे पाते हैं, जैसे कि विज्ञान में कार्य कारण का सिद्धांत है। समझो कि आप पानी को गर्म कर रहे हो, सौ डिग्री तक आपने गर्म किया एक विशेष दबाव पर, तो पानी भाप बनकर उड़ जाएगा। यह नियम है, ऐसा ही होगा। पानी गरम किया जाएगा तो वह भाप बनेगा। इसके विपरीत नहीं हो सकता। नियम का कोई उल्लंघन नहीं हो सकता। इससे पता चलता है कि पानी को गरम किया जाना कारण है और इसका कार्य, इसका इफैक्ट, इसका परिणाम है भाप बनना। इन दोनों के बीच में कॉज एंड इफैक्ट का रिलेशन है।

साधना में और ध्यान–उपलब्धि में ऐसा संबंध नहीं है। इसलिए जिन्होंने भी प्रभु को पाया उन्होंने सदा यही कहा कि प्रभु–कृपा से मिला। यह उसकी मेहरबानी। हमारे करने से नहीं मिला। इससे बड़ी भ्रांति खड़ी होती है। ऐसा लगता है क्या हमारी साधना व्यर्थ है? हमारे कर्म कोई मायने नहीं रखते? वह मायने रखते हैं, खिड़की–दरवाजे खोलने के तुल्य।

एक दूसरे उदाहरण से समझ लीजिए। बरसात के दिन हैं, बारिश हो रही है बादलों से। यह बादलों की कृपा है। हमारे कुछ करने से बादल नहीं बरस रहे। मानसून हमारे बुलाने से नहीं आया है। यह प्रकृति का खेल है, उसका हिस्सा है। लेकिन हमारा घड़ा अगर उल्टा रखा है तो वह खाली ही रह जाएगा। हमारा घड़ा अगर सीधा रखा है और कचड़े–कूड़े से भरा है तो वह अमृत स्वरूप जल गिरेगा लेकिन इस कचड़े–कूड़े में मिलकर सब विषाक्त हो

जाएगा। अथवा, हमारा घड़ा खाली है, मगर छिद्र युक्त है, टूटा–फूटा है तो उसमें पानी तो गिरेगा लेकिन ठहर नहीं पाएगा; तुरंत गायब हो जाएगा। इन तीनों ही स्थितियों में हम पानी को संग्रह नहीं कर पाएंगे। तो क्या करें हम? यह करना होगा कि हम घड़े को सीधा रखें, साफ–सुथरा रखें, कूड़ा–करकट हटाएं, अगर छिद्र हैं तो उनको बंद करें। इस घड़े को छिद्र रहित करें। फिर हम प्रतीक्षा करें। आएगा मानसून, मेघ उमड़ेंगे–घुमड़ेंगे, वर्षा होगी तो हमारा घड़ा भी भर जाएगा। हमारी प्यास भी बुझ जाएगी।

अतः साधना घड़े को सीधा करने जैसी है, घड़े को छिद्र रहित करने जैसी, घड़े को साफ–सुथरा करने जैसी है। कोई कॉज एंड इफैक्ट रिलेशन नहीं है कि हमने घड़े सीधा कर लिए इसलिए बादल बरसेंगे ही। बादल अपने मौज से बरसते हैं, यह उनकी अनुकंपा है! हमारे कर्म से उसका कुछ लेना–देना नहीं है।

गुरु जी, क्या यह सब पात्रता पर निर्भर करता है?

बिल्कुल सही। घड़ा अर्थात् पात्र। सीधा–साफ–छिद्रहीन होना यानी पात्रता।

गुरु जी, कोई दिन भर अपनी सजगता साधे तो क्या उसका प्रभाव नींद पर भी पड़ता है?

निश्चित रूप से नींद पर प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि नींद हम विश्राम लेने के लिए करते हैं, शांत होने के लिए करते हैं। जो व्यक्ति दिन भर ध्यान साधने का प्रयास कर रहा है, ज्यादा से ज्यादा सजग और साक्षी बन रहा है, वह दिन में ही शांत होने लगा। अब इसकी नींद की जरूरत अन्य दिनों की तुलना में घट जाएगी। क्योंकि प्रकृति ने इंतजाम किया था नींद का ताकि व्यक्ति रिलैक्स हो सके, विश्रामपूर्ण हो सके। अगर वह दिन भर ही शांत, सजग, विश्रामपूर्ण एवं तनाव रहित जीवन जी रहा है तो फिर आठ–दस घंटे की नींद जरूरी नहीं है। हो सकता है पांच–सात घंटे में ही उसका काम चल जाए।

शरीर को सम्यक नींद तो चाहिए। लेकिन इसमें हमारे मन का भी काफी बड़ा रोल है। हम जितने ज्यादा तनावपूर्ण होंगे, हमें उतनी ही ज्यादा नींद की जरूरत पड़ेगी ताकि हम तनाव रहित हो सकें और हमारा तन–मन स्वस्थ हो सके। इसलिए ध्यान साधना का नींद पर प्रभाव पड़ता है। बहुत सुंदर प्रभाव पड़ता है। नींद अत्यंत शांत अवस्था बन जाती है।

दूसरा प्रश्न : विज्ञान एवं अध्यात्म के ज्ञान में क्या अंतर है?

जमीन–आसमान का अंतर है। कुछ मोटे–मोटे अंतर मैं आपको स्पष्ट करता हूं। पहली चीज– विज्ञान का क्षेत्र बाहर का जगत है, आउटर वर्ल्ड। ध्यान का क्षेत्र स्वयं के भीतर है, इनर वर्ल्ड उसको कह लो। विज्ञान की खोज विचार से, तर्क से, संदेह से होती है। स्वयं अपनी आत्मा की खोज श्रद्धा से, प्रेम से, निर्विचार होकर, नितर्क होकर, तर्क रहित होकर होती है। अगर तुम तर्क करते चले गए, विचार करते चले गए तो भीतर का ज्ञान घटित नहीं होगा। विचार विश्लेषण का काम करता है। ऐसा समझना कि वह चाकू जिससे हम चीजों

को तोड़ते हैं, काटते हैं, कांट–छांट करते हैं। भीतर विचार की कोई जरूरत नहीं, वहां किसी की कांट–छांट नहीं करनी है, वहां अपना पोस्टमार्टम नहीं करना है। इसलिए आप देखते हैं कि विज्ञान बड़ी चीजों से क्रमशः छोटी चीजों पर आता चला जाता है। तत्वों पर आया, फिर अणु पर आया, फिर परमाणु पर आया, फिर इलेक्ट्रॉन, प्रोटान पर आया और अब उनसे भी छोटे सब–एटॉमिक पार्टिकल्स पर आ गया और फिर एनर्जी पर आ गया। सूक्ष्म से सूक्ष्म, और सूक्ष्म, और सूक्ष्म, और सूक्ष्म। काटता जाता है, तोड़ता जाता है। तोड़ना उसकी प्रक्रिया है। छोटे–छोटे खंड, और छोटा खंड। धर्म की प्रक्रिया ठीक विपरीत है, जोड़ने की प्रक्रिया। विश्लेषण नहीं बल्कि संश्लेषण। इसलिए धर्म की साधना को हम कहते हैं योग। योग यानि जोड़ना। हम जुड़ते चले जाते हैं, जुड़ते चले जाते हैं।

हमारी जो स्प्रिट पर्सनालिटी है, खंडित व्यक्तित्व है, वह एकजुट होता चला जाता है। अंततः हम अखंड सत्ता को जिसको हम परमात्मा कहें, उसको हम पाते हैं। वह अखंड है। विज्ञान ने जिसको पाया है, वह खंड–खंड है। दोनों में बड़ा भेद है। विज्ञान का ज्ञान ऑब्जेक्टिव नॉलेज है। भीतर का ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान सब्जेक्टिव नोइंग है। बाहर का ज्ञान सूचनात्मक और भीतर का ज्ञान एक्सपेरिमेंट नहीं बल्कि एक्सपीरियंस है। वह अनुभूति है। यह कोई विचार नहीं है, यह कोई सूचना नहीं है। बाहरी जगत की सूचनाएं हम शेयर कर सकते हैं, विज्ञान की किताबें हो सकती हैं। लेकिन धर्म के शास्त्र नहीं हो सकते। क्योंकि वह बात शब्दों में कही ही नहीं जा सकती जो मौन में जानी गई है। आत्मज्ञान मौन में, शून्य में, सन्नाटे में घटित होता है। बाहर का ज्ञान शब्दों के द्वारा घटित होता है और शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। भीतर की अनुभूति शब्दों के अभिव्यक्ति में नहीं समाती। तो यह बुनियादी भेद है।

जो बहिर्मुखी व्यक्ति है, वह विज्ञान में उत्सुक होता है, जो अंतर्मुखी व्यक्ति है, वह आत्मज्ञान में उत्सुक होता है। दोनों की दिशाएं भी बिल्कुल भिन्न हैं। एक को बहिर्यात्रा करनी होगी एक को अंतर्यात्रा करनी होगी। एक को शब्दों के साथ जीना सीखना होगा, एक को शब्दों से मुक्त होना होगा। विज्ञान की खोज मन के द्वारा होगी। बुद्धि–विवेक के द्वारा होगी और भीतर की खोज जागरण के द्वारा, जागृति द्वारा होगी, वहां विचारों की, तर्कों की कोई जरूरत नहीं है। वहां कोई गुणा–भाग, हिसाब–किताब की कोई जरूरत नहीं है। वहां तो मौन सन्नाटे में डूब जाना होगा। दोनों में बड़ा फर्क है।

गुरु जी, जैसे कि आपने इनकी भिन्नता बताई, लेकिन फिर भी ऐसा लगता है कि आपस में ये दोनों जुड़े भी हुए हैं। अगर हमें बाहर की चीजों के बारे में पता है, तभी हम अंदर भी वह चीज जान सकते हैं। क्या बौधिक मन कहीं–न–कहीं काम आता है?

नहीं, संसार में सब कुछ संयुक्त है, सब कुछ जुड़ा है। लेकिन जब हम खोज करने चलेंगे तो हम एक बार में एक ही दिशा में जा सकते हैं। यह हो सकता है कि एक व्यक्ति

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का हो बाहर के जगत में और भीतर ध्यान की भी उसकी खोज हो। लेकिन दोनों चीजें एक साथ नहीं होंगी। जब वह अपने प्रयोगशाला में एक्सपेरिमेंट कर रहा है तो वह बहिर्मुखी होगा। जब वह अपने घर में आकर या मंदिर में जाकर ध्यान में डूबा, समाधिस्त हुआ, तब वह अपने भीतर गया।

तो दोनों यात्राएं एक ही व्यक्ति के लिए संभव हैं। लेकिन दोनों के डायमेंशन अलग-अलग है, भिन्न-भिन्न समय पर। जब अपने भीतर वह मौन में डूबा है, उस समय वैज्ञानिक अन्वेषण नहीं कर सकेगा। जब वैज्ञानिक अन्वेषण कर रहा है तब वह बहिर्मुखी है। तब वह माइक्रोस्कोप में देख रहा है या दूर टेलिस्कोप से देख रहा है, तब अपने भीतर वह स्थित नहीं हो पाएगा। दोनों चीजें एक व्यक्ति के जीवन में संभव हैं। लेकिन बारी-बारी से होंगी। यह करीब-करीब ऐसा है कि जब मैं चल रहा हूं, तब बैठा हुआ नहीं हो सकता और जब बैठा हुआ हूं तब चल नहीं सकता। यद्यपि दोनों मेरी संभावना हैं, मैं चल भी सकता हूं और बैठ भी सकता हूं। लेकिन दोनों अलग-अलग समय पर होंगी।

तीसरा प्रश्न : विज्ञान ने केवल जीने का सामान ही नहीं दिया, युद्ध और आतंक के साधन भी निर्मित किए हैं। फिर भी ओशो जैसे मनीषी विज्ञान के पक्ष में क्यों रहते हैं ? समझाने की अनुकंपा करें।

विज्ञान ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है और निश्चित रूप से बहुत कुछ चमत्कारिक आविष्कार किए हैं। पुराने शास्त्रों में, स्वर्ग में जिन सुखों का वर्णन था, उनसे बहुत ज्यादा बेहतर स्थिति आज धरती पर बना दी है। प्रश्नकर्ता की दूसरी बात भी सच है कि विज्ञान ने युद्ध के, हिंसा के, मार-काट के, खून-खराबा के साधन भी दिए हैं। लेकिन याद रखना इसमें विज्ञान का दोष नहीं है, बल्कि वह राजनीति जो विज्ञान का उपयोग कर रही है, कहना चाहिए दुरूपयोग कर रही है। यह उसका दोष है। अणु बम बनाए वैज्ञानिकों ने लेकिन उन्होंने बड़ी विनती की थी कि इसका उपयोग न किया जाए। लेकिन फिर राजनीतिज्ञों ने न सुनी।

अल्बर्ट आइंस्टीन ने सबसे पहले पत्र लिखा था अमेरिकन प्रेसीडेंट को कि हम लोग बम बना सकते हैं और जर्मन, जापान से हम जीत सकते हैं। तब उन्होंने तुरंत कहा कि हां, यह कार्य किया जाए। वैज्ञानिकों की बड़ी टीम बना दी, बजट में बहुत सारा पैसा पास कर दिया कि जो भी खर्च होगा किया जाए। जब बम बन गया तब स्थिति बदल चुकी थी। जापान, जर्मनी लगभग हारने ही वाले थे। दस दिन कि पंद्रह दिन और ज्यादा-से-ज्यादा सेकेंड वर्ल्डवार चलता। आइंस्टीन ने सारे वैज्ञानिकों की तरफ से प्रैसीडेंट को पत्र लिखा कि अब बम की कोई आवश्यकता नहीं है, इसका उपयोग न किया जाए। लेकिन फिर उसके पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। हिरोशिमा और नागासाकी में बम डालकर लाखों लोगों को एक सेकेंड में राख कर दिया। क्या हम इसका दोष वैज्ञानिकों को देंगे या राजनीतिज्ञों को देंगे। इस बात को जरा गौर से टटोलना।

विज्ञान साधन जुटा रहा है, अब उसका सदुपयोग या दुरूपयोग तो लोगों पर निर्भर

करता है। चूंकि राजनीतिज्ञों की रुचि हिंसा की है, लड़ाई की है, मार–काट की है। वह उसका दुरूपयोग कर लेते हैं। तो सद्‌गुरु ओशो विज्ञान के पक्ष में हैं, लेकिन उसका दुरूपयोग न हो इसके भी पक्ष में हैं। मुझे याद आता है– 'पथ के प्रदीप' नामक पत्र संकलन में सद्‌गुरु ओशो के सौ पत्र संकलित हैं, उसमें इस संदर्भ में भी उन्होंने कुछ बहुत महत्वपूर्ण बात कही है। वह मैं आपको पढ़कर सुनाना चाहता हूं।

'आत्मज्ञान एक मात्र ज्ञान है। क्योंकि जो स्वयं को ही नहीं जानते उनके और सबकुछ जानने का मूल्य ही क्या है? मनुष्य की सबसे बड़ी कठिनाई मनुष्य का अपने ही प्रति अज्ञान है। दीये के ही नीचे जैसे अंधेरा होता है, वैसे ही मनुष्य उस सत्ता के प्रति ही अंधकार में होता है जो कि उसकी आत्मा है। हम स्वयं को ही नहीं जानते हैं और तब यदि हमारा सारा जीवन गलत दिशाओं में चला जाता हो तो आश्चर्य करना व्यर्थ है। आत्मज्ञान के अभाव में जीवन उस नौका की भांति है, जिसका चलाने वाला होश में नहीं है। लेकिन नौका को चलाया जा रहा है। जीवन को सम्यक गति और गंतव्य देने के लिए स्वयं का ज्ञान आधारभूत है। इसके पूर्व मैं जानूं कि मुझे क्या होना है? यह जानना बहुत अनिवार्य है कि मैं क्या हूं? मैं जो हूं, उससे परिचित होकर ही मैं उस भविष्य के आधार रख सकता हूं जो कि अभी मुझमें सोया हुआ है। मैं जो हूं, उसे जानकर ही मुझमें अभी जो अजन्मा है, उसका जन्म हो सकता है। यदि जीवन को सार्थकता देनी है और पूर्णता के तट तक अपनी नौका ले जानी है तो और कुछ जानने के पहले स्वयं को जानने में लग जाओ उसके बाद ही शेष ज्ञान का उपयोग होता है, अन्यथा अज्ञान के हाथों में आया ज्ञान आत्मघाती ही सिद्ध होता है। ज्ञान की पहली आकांक्षा स्वयं को जानने की है। उस बिंदु पर अंधकार है तो सब जगह अंधकार है और वहां प्रकाश है तो फिर सब जगह प्रकाश है।'

अंतिम सवाल : गुरुदेव, अब कुछ गैर–गंभीर बात हो जाए! कल आप कृषि विभाग के अध्यक्ष महोदय का लतीफा सुना रहे थे। क्या वह समयाभाव में अधूरा रह गया था?

हाँ। चुटकुला तो जीवन की तरह अंतहीन सिलसिला होता है। आगे सुनो।

दूसरे खेत में जाकर उन्होंने पूछा– अरे, इतनी मोटी घास! क्या विदेश से बीज मगांया था? किसान– मालिक, यह घास नहीं, गन्ने की फसल है। अध्यक्ष– अच्छा! गुड़ वाला गन्ना?

किसान– जी हाँ। अध्यक्ष– अभी तक इसमें गुड़ लगना शुरु नहीं हुआ। कब तक लगेगा? किसान– साहिब, जब आप वाइस चांसलर बनेंगे, तब।

अध्यक्ष शुभकामना हेतु धन्यवाद देकर विदा हुआ। आज इतना ही। शेष आगे....

प्रवचन 5

संतोषी सदा सुखी

पहला प्रश्न : यह कहावत बड़ी प्रचलित है कि 'संतोषी सदा सुखी।' क्या ओशो इससे सहमत हैं।

बिल्कुल नहीं, जो व्यक्ति संतुष्ट हो गया उसका विकास रुक जाता है। हो सकता है कि वह सुखी नजर आए; लेकिन वह वास्तविक सुख से, परम आनंद की संपदा से चूक जाता है। याद रखना इस विकास क्रम में हम जहां पर हैं, उससे और भी आगे हमें जाना है। अगर हम अपने होने से राजी हो गए, संतुष्ट हो गए तब हमारे भीतर और आगे बढ़ने की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। इसलिए जिन देशों में, जिन समाजों में इस प्रकार की कहावतें प्रचलित रही हैं कि 'संतोषी सदा सुखी।' लोग सुखी तो नहीं हुए, लेकिन उन्हें किसी प्रकार सांत्वना अवश्य मिल गई। उनको एक झूठी शांति जरूर मिल गई। कोई रूपांतरण नहीं हुआ, उनका विकास नहीं हुआ। विकास के क्रम में वे समाज पिछड़ गए। जहां पर असंतोष सिखाया गया था, आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी गई थी वह देश, वह समाज निश्चित रूप से आगे बढ़े और उन्होंने बहुत उन्नति की। तो हमारे देश में विशेषकर इस प्रकार की कहावतें प्रचलित हैं कि 'संतोषी सदा सुखी' साधु-संन्यासियों ने इस प्रकार की बातें फैलाई। वे कहते हैं कि संसार में मत उलझो, कुछ करने की जरूरत नहीं है, शांत बैठो, चुपचाप बैठो, कुछ न करो-धरो। वे तो समाज को त्याग कर चले गए घर, परिवार, दुकान, खेत-खलिहान को छोड़कर जंगलों में, पर्वतों में, गुफाओं में जाकर बैठ गए। यह त्यागवादी दृष्टिकोण है कि जो है, जैसा है उससे राजी हो जाओ। परिवर्तन की कोई जरूरत नहीं है। यह आत्मघाती प्रवृत्ति है। यह एक प्रकार की सुसाइडल टेंडेंसी है।

हमारे देश पर छोटे-छोटे मुल्कों ने हमला किया। जिन्होंने आक्रमण किया उनकी गिनती कुछ खास नहीं थीं। कुछ हजार रही होगी बस, और हमारा करोड़ों-करोड़ों का इतना बड़ा देश कैसे गुलाम बन गया? क्योंकि हमारे यहां कहावत है 'संतोषी सदा सुखी।' जो हो रहा है, उसमें संतुष्ट हो जाओ। प्रभु की यही मर्जी होगी कि मुगल हमें दास बना लें,

कि अंग्रेज हमें गुलाम बना लें, कि फ्रेंच आ जाएं और कब्जा कर लें, कि पुर्तगाली आ जाएं और कब्जा जमा लें। आश्चर्य की बात है इतनी दूर–दूर से कुछ सौ या कुछ हजार लोग आए और उन्होंने इतने बड़े देश पर कब्जा जमा लिया। और हमने कोई प्रतिरोध नहीं किया। संतोष की शिक्षा। भांति–भांति की आर्थिक परेशानियों में यह देश रहा। बड़ी गरीबी में दिन गुजरे हैं, गुलामी में दिन गुजरे हैं। हमने सब स्वीकार कर लिया क्योंकि हमारे साधु–महात्माओं ने कहा 'संतोषी सदा सुखी' गरीबी है तो गरीबी में संतुष्ट रहो, बीमारी है तो कोई बात नहीं है, बीमारी में संतोष रखो, धीरज रखो। कोई कष्ट है, कोई तकलीफ है, प्राकृतिक विपदाएं आ रही हैं संतोष रखो। हम सब प्रकार से अविकसित रह गए। हमने चुनौतियों को चुनौतियों की तरह नहीं लिया। हमने जीवन के अवसरों को विकास के लिए उपयोग नहीं किया। इस प्रकार की कहावतों की वजह से हर चीज हमारे लिए बाधक बन गई, रोकने वाली बन गई नहीं। ऐसे सुख की कोई कीमत नहीं है जो झूठे संतोष से प्राप्त होता है।

आपने पूछा है कि क्या ओशो इससे राजी हैं? तो एक हिस्सा तो यह हुआ जो मैंने आपको समझाया। दूसरा हिस्सा है, एक ओर जो परम संतोष है जो अपने भीतर के आत्मानंद को जानकर उपलब्ध होता है। परम तृप्ति। वह बाहर की चीजों से संबंधित नहीं है, वह अपने भीतर घटित होती है।

तो जब तक वह न मिल जाए तब तक कोई भी संतोष हमें रोकने वाला साबित होगा। जब तक हम अपनी आखिरी मंजिल न पा लें, तब तक इन छोटे–मोटे मुकामों को, मंजिल मत समझ लेना। वहां पर अगर संतुष्ट होकर तुम बैठ गए तो तुम्हारे मार्ग में बाधा पड़ गई। चलते चलो, चलते चलो। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा है कि अंतिम क्षण में भी उन्होंने वही बात रिपीट की चरैवेती–चरैवेती। पाली भाषा में उसका अर्थ है– चलते रहो, चलते रहो। यह है बुद्धों का, ज्ञानियों का, संतों का संदेश। 'संतोषी सदा सुखी' बहुत ही मीडियाकर किस्म के लोग, त्यागवादी, पलायनवादी, जिम्मेदारी और उत्तरदायित्व से भागने वाले लोगों के द्वारा बनाई गई कहावत है।

सद्‌गुरु ओशो ने 'पथ के प्रदीप' नामक पत्र संकलन में एक बहुत प्यारा पत्र लिखा है, वह मैं आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा।

ओशो लिखते हैं। 'मनुष्य को स्वयं से ही अतृप्त होना होता है, तभी उसके चरण प्रभु की दिशा में उठते हैं। जो स्वयं से तृप्त हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। मैं अतृप्ति सिखाता हूं। मैं मनुष्य होने से असंतोष सिखाता हूं। मनुष्यता जीवन यात्रा का पड़ाव है, अंत नहीं। और जो उसे अंत समझ लेते हैं वे मनुष्य से ऊपर उठने के एक अमूल्य अवसर को व्यर्थ ही खो देते हैं। हम एक लंबे विकास की मध्य

कड़ी हैं, हमारा अतीत एक यात्रा पथ था। हमारा भविष्य भी यात्रा है। विकास हम पर समाप्त नहीं है। वह हमें भी अतिक्रमण करेगा। हम अपनी ओर देखें तो यह समझना कठिन नहीं होगा। मनुष्य का हर भांति अधूरा और अपूर्ण होना इसका प्रमाण है। हम कोई ऐसी कृति नहीं हैं कि प्रकृति हम पर रूक जावें। प्रभु के पूर्व विकास यदि वस्तुतः विकास से तो वह कही भी नहीं रुक सकता है।

प्रभु की पूर्णता पाने के पूर्व विकास का न कोई सार्थक अंत हो सकता है और न कोई अभिप्राय या अर्थ हो सकता है। मनुष्य प्रभु को पाने का मार्ग है। और जो मंजिल को छोड़ मार्ग से ही संतुष्ट हो जावे उसके दुर्भाग्य का क्या कहें? पशु को हमने पीछे छोड़ा है, प्रभु को हमें आगे पाना है। हम पशु और प्रभु के बीच एक सेतू से ज्यादा नहीं है। इसलिए मैं मनुष्य के अतिक्रमण के लिए कहता हूं। मनुष्य को हमें वैसे ही पीछे छोड़ देना है जैसे सांप अपनी केंचुली छोड़कर आगे बढ़ जाता है। मनुष्य का अतिक्रमण ही मनुष्य जीवन का सदुपयोग है। उसके अतिरिक्त सब दुरूपयोग है। मार्ग रुकने के लिए नहीं होता उसकी सार्थकता ही उसके पार हो जाने में है। जैसा अपने को पाते हो उस पर ही मत रुक जाना वह पथ का अंत नहीं, प्रारंभ ही है। पूर्ण जब तक न हो जाओ तब तक जानना कि अभी मार्ग का अंत नहीं आया है।'

दूसरा प्रश्न : मुझ जैसा एक साधारण मनुष्य सत्य की प्राप्ति के लिए क्या करे?

सबसे पहले तो यह समझो कि कोई भी साधारण मनुष्य नहीं है। क्यों अपने आप को एक हीन भाव से भरना? अहंकार के दो रूप हैं, एक रूप है श्रेष्ठता की भावना कि मैं कुछ खास हूं, मैं कुछ विशिष्ट हूं, मैं सबसे आगे हूं। और दूसरा है– इसका शीर्षासन करता हुआ रूप, हीनता की की भावना। कि मैं तो साधारण हूं, मैं तुच्छ हूं, मैं तो कुछ भी नहीं। फिर यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि प्रभु की प्राप्ति के लिए मैं क्या कर सकता हूं या क्या कर सकती हूं? पहले तुमने एक गलत मान्यता को स्वीकार कर लिया। मैं आपसे कहना चाहता हूं कि इस जगत में साधारण कोई है ही नहीं।

जब सबके भीतर प्रभु मौजूद है तो साधारण और सामान्य भला कैसे हो सकता है। हम सब एक अद्‌भुत संभावना लेकर जन्में हैं। एक बीज हमारे भीतर पड़ा हुआ है। एक विराट वृक्ष होने को है। वह पुष्पित, पल्लवित होगा। अद्‌भुत फूल और फल उसमें लगेंगे। बहुत कुछ होने को है। बीज को साधारण मत कहना। एक बीज में इतनी संभावना है, यह सारी पृथ्वी

को हरा कर सकता है। क्योंकि एक वृक्ष में हजारों–हजारों बीज लगते हैं। हर बीज फिर एक वृक्ष बन सकता है।

तो वास्तव में एक बीज सारी धरती को हरियाली से भर सकता है। एक धरती को क्यों? ऐसी हजारों धरतियां हों, उनको भी भर सकता है। बीज की विराट संभावना है। देखने में तो छोटा कंकड़–पत्थर जैसा ही लगता है। अपने भीतर की इस संभावना को पहचानो। मत कहो कि मैं एक साधारण मनुष्य हूं, प्रभु को पाने के लिए क्या कर सकता हूं। काश तुम अपनी संभावना को देखो तब तुम्हारे प्राण एक अद्‌भुत जिज्ञासा से, उमंग से, उत्साह से और ऊर्जा से भर जाएंगे। तुम्हारे सामने एक बहुत बड़ी चुनौती है। अंकुरित होना है, पुष्पित, पल्लवित होना है, तुम्हें एक छायादार वृक्ष बनना है। तुम साधारण नहीं हो, कोई भी साधारण बीज नहीं होता है।

ठीक ऐसे ही कोई मनुष्य साधारण मनुष्य नहीं होता। जरा देखो तुम्हारे हाथ के अंगूठे का निशान भी किसी अन्य व्यक्ति से नहीं मिलता। इतनी छोटी चीज तक बड़ी यूनिक है। अब अंगूठे के निशान का हमारी दृष्टि में क्या महत्व है? लेकिन इतनी छोटी सी चीज भी बिल्कुल अद्वितीय है। हर व्यक्ति अनूठा, बेजोड,. अद्वितीय और असाधारण है। सबसे पहले तो इस बात को पहचानो। फिर स्वाभाविक रूप से दूसरा सवाल उठता है कि अपनी संभावना को वास्तविकता में बदलने लिए हम क्या कर सकते हैं? ध्यान साधना उसका मार्ग है, भक्ति उसका मार्ग है, तंत्र साधना उसका मार्ग है। अपनी संभावना को वास्तविक करने के बहुत मार्ग हैं। लेकिन सबसे पहली बुनियादी बात है कि अपनी असाधारणता को पहचानो। इसका यह मतलब नहीं कि तुम दूसरों से श्रेष्ठ हो या निकृष्ट हो। वह श्रेष्ठ निकृष्ट वाली बात छोड़ो। हर व्यक्ति अनूठा है, बेजोड़ है, अद्वितीय है। न यहां कोई श्रेष्ठ है, न कोई निकृष्ट है। सब परमात्मा की ही संभावना को लेकर पैदा हुए हैं और वृक्ष बनने के लिए आए हैं।

तीसरा प्रश्न : जिन लोगों को न तो ध्यान में गहराई मिलती है और न वे प्रेम में डूब पाते हैं, उनके लिए कौन–सा रास्ता है?

तीसरा रास्ता कर्म का रास्ता है। ऐसा समझें हमारे व्यक्तित्व के तीन मुख्य हिस्से हैं। एक हमारी देह है– (फिजिकल बॉडी) भौतिक काया। दूसरा है– हमारा मन। जहां विचार की शक्ति है। और तीसरा हमारा हृदय, जहां पर हमारी भावशक्ति है। तो एक मनुष्य की ऊर्जा तीन दिशाओं में प्रवाहित हो सकती है या तो कर्म में या ज्ञान में या भक्ति में। जो लोग ज्यादा बौद्धिक किस्म के हैं, ज्ञानी प्रवृत्ति के हैं उनको ध्यान में गहराई आसानी से मिल जाती है। क्यों? क्योंकि वे विचारों से थक चुके हैं और निर्विचार जागरूकता में डूबना उनके लिए विश्रामदायी होगा। उसके लिए उनके प्राण लालायित ही हैं। विचारों से वे थक चुके हैं, ऊब

चुके हैं। दिन–रात बुद्धि का काम करते–करते वह चाहते हैं कि बुद्धि को विश्राम भी मिले। ध्यान में उनकी डुबकी लग जाती है। ध्यान यानि निर्विचार जागरण। उसमें वही जा सकेगा जो विचारशील है, जो बुद्धिजीवी है।

दूसरा मार्ग है– भावनाओं, संवेदनाओं का। जो लोग इमोशनल हैं, सैंटीमैंटल हैं, वे भक्ति में डुबकी लगा सकते हैं। भावना एक प्रकार की कल्पनाशक्ति है। याद रखना वह विचार शक्ति से बिल्कुल भिन्न है। उस शक्ति का हम उपयोग कर सकते हैं, एक दूसरे मार्ग से परम सत्य तक पहुंचने के लिए। और तीसरा मार्ग है– कर्म का। अर्थात् शारीरिक क्रियाओं का।

दुनिया में कर्मठ लोगों की बड़ी गिनती है। ज्ञानी लोग भी बहुत कम हैं और भावुक लोग भी बहुत कम हैं। जैसे आप सिनेमा देखने गए और दो–चार मिनट के बाद आपको भी जोश चढ़ गया, कि प्रेम आवेश में आ गए तो उससे आप यह मत समझना कि आप बड़े प्रेमी किस्म के व्यक्ति हो। वह तो फिल्म का प्रभाव था। पांच–दस मिनट में वह प्रभाव समाप्त हो जाएगा। दुनिया में बहुत कम लोग हैं जो प्रेमी स्वाभाव के हैं और दुनिया में बहुत कम लोग हैं जो विवेकपूर्ण स्वभाव के हैं। इनकी गिनती कम है। सबसे ज्यादा गिनती कर्मठ लोगों की है। इसलिए न तो ध्यान का मार्ग बहुत चौड़ा रास्ता हाईवे कभी बन सकता है और न भक्ति का रास्ता हाईवे बन सकता है। ये छोटी–छोटी पगडंडियां हैं यदा–कदा कोई इन पर चलता है। सबसे बड़ा मार्ग जो दुनिया में हो सकता है परमात्मा तक जाने का, वह कर्मयोग का मार्ग है।

तो साधना की दृष्टि से तीन योग मुख्य हो जाते हैं– कर्म योग, ध्यान योग और भक्ति योग। तो जिन्होंने सवाल पूछा है कि ध्यान में भी गहराई नहीं मिलती, भक्ति में, प्रेम में, श्रद्धा में भी गहराई नहीं मिलती है, उनसे कहना कि निराश होने की कोई जरूरत नहीं, अभी एक रास्ता और बाकि है और दुनिया के अधिकांश लोग उसी रास्ते पर चलकर परमात्मा तक पहुंच सकते हैं और वह है कर्म के साक्षी होना। अपनी शारीरिक क्रियाओं के प्रति सजगता को साधना, होशपूर्वक छोटी से छोटी क्रिया करना। वह रास्ता बन जाएगा।

चौथा प्रश्न : अक्सर लोग संन्यास का या ध्यान का नाम सुनकर दूर भागते हैं, ऐसा क्यों?

अतीत में ध्यानियों ने, संन्यासियों ने, साधु–महात्माओं ने जो किया है, यह उसका कारण है। वह शुभ नहीं था, वह सुंदर नहीं था, वह सत्य की दिशा में भी नहीं था। दुनिया के आलसी और काहिल लोग पलायनवादी, भगोड़े किस्म के लोग घर–परिवार, समाज को छोड़कर भाग गए और वे संन्यासी कहलाए। हमने समझा कि वह गुफा में बैठकर ध्यान कर रहे होंगे, पर न तो उनको ध्यान घटित हुआ और न तो वह सच्चे संन्यासी थे। वे केवल

भगोड़े थे। जीवन की जिम्मेदारियों को स्वीकार करना नहीं चाहते थे, जीवन की चुनौतियों से बचना चाहते थे। उन लोगों की वजह से समाज में एक प्रचलित धारणा हो गई। इस प्रकार के संन्यासियों से सावधान। लोग ऊपर–ऊपर से दिखाते तो हैं कि गांव में कोई संन्यासी आया है, उसके पैर छूने जाएंगे। लेकिन कोई कहे कि आपका बेटा संन्यासी बनना चाहता है, तब आपको पता चलेगा। आपके प्राण छटपटा जाएंगे। दूसरे का बेटा संन्यासी बन गया और आपने उसके चरण स्पर्श किए, फूल–मालाएं उसको पहनाई। अपने बेटे को क्यों नहीं बनने देना चाहते? इसका मतलब वह जो सम्मान आपने प्रगट किया दूसरे संन्यासी को वह झूठा सम्मान था। आप चाहते हैं कि आपका बेटा दुकान चलाए, फैक्ट्री चलाए, नौकरी करे, अपने घर–गृहस्थी का पालन करे। कल को आपका बेटा भाग जाएगा घर छोड़कर उसकी पत्नी और बच्चों की जिम्मेदारी भी आपकी जिम्मेदारी हो जाएगी। बुढ़ापे में भी आप चैन से न रह सकेंगे। आप कभी नहीं चाहेंगे कि आपका बेटा संन्यासी हो।

संन्यासियों ने एक भय पैदा कर दिया। जरा सोचो, करोड़ों–करोड़ों लोग इस देश में संन्यासी हुए, उनकी पत्नियों का क्या हुआ होगा? शायद पति के जीवित रहते–रहते उन्होंने विधवाओं जैसा जीवन जिया होगा। बहुत दुख और कष्ट उन्हें मिला होगा। कितनी स्त्रियों को वैश्या बन जाना पड़ा होगा। इन संन्यासियों के बच्चों का क्या हुआ होगा? बाप के जिंदा रहते हुए, वे अनाथ जैसे हो गए होंगे। इनके वृद्ध माता–पिता उनका क्या हुआ होगा? सोचा था कि बेटा बुढ़ापे में सहारा बनेगा लेकिन वह बुढ़ापे की लकड़ी भाग खड़ी हुई। बहुत कष्ट मिले होंगे। ये जो घाव लगे हैं करोड़ों–करोड़ों लोगों को, उन घावों की वजह से संन्यास और ध्यान के नाम से चिढ़ पैदा होती है। लेकिन मैं कहना चाहूंगा– सद्‌गुरु ओशो ने ध्यान की, संन्यास की परिभाषा बदल दी। वे कहते हैं कि संसार में जहां हो, जो कर रहे हो उसी को और होशपूर्वक, और प्रेमपूर्वक करो। कर्म से पलायन नहीं सिखा रहे हैं बल्कि सुंदर ढंग से कर्म करो यह सिखा रहे हैं। तो सारी बात ही बदल जाती है और इसलिए ओशो के संन्यास से, ओशो के ध्यान से डरने की कोई आवश्यकता नहीं।

अंतिम सवाल : गुरुदेव, हमारे सीरियल के दर्शक प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कृषि–अध्यक्ष ने आगे क्या गुल खिलाया?

आदरणीय प्रोफेसर साहब ने तीसरे खेत में जाकर पूछा– आप क्या उगाते हैं?

किसान : जी, कपास।

अध्यक्ष– वो क्या होता है?

किसानः जी, जिससे आप का कुर्ता बनता है।

अध्यक्ष– तो सीधा–सीधा ऐसा कहिए न कि आप कुर्ते की खेती करते हैं।

आज इतना ही। ठीक है...?

प्रवचन 6

अनीति, अधर्म हिंसा, क्रोध

पहला प्रश्न : बहुत आचरण साधने पर भी पाप के प्रति आकर्षण मिटता क्यों नहीं?

महत्त्पपूर्ण सवाल है। बहुत लोग अपने बाहर-बाहर के आचरण को साधने की, बदलने की कोशिश करते रहते हैं। हमारा जो जीवन का बाहरी व्यवहार है, उसे वस्त्र की भांति समझना। मैं अपने कपड़े बदलता रहूं, कपड़ों का रंग बदलता रहूं, डिजाइन बदलता रहूं , इससे 'मैं' नहीं बदल जाता। यह भूल हमें बड़े विषाद में ले जाती हैं। मेरे कपड़े 'मैं' नहीं हूं। कपड़ें ऊपर-ऊपर की बातें हैं।

ठीक इसी प्रकार हमारा आचरण, दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार, वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। हमारा व्यवहार, आधुनिक मनोविज्ञान बड़े बिहेवियर की खोज करता है। व्यवहारवादी (विहेवियरिस्ट) उन्हें कहा जाता है। लेकिन वे ऊपर-ऊपर की चीजों को देख रहे हैं, परख रहे हैं और बड़े पुराने जमाने से हम जिनको धार्मिक लोग कहते रहे हैं, वे भी धर्म में उत्सुकता नहीं लिए बल्कि नैतिकता में और आचरण में उत्सुक हुए। बाहर के जीवन को हम बदलने का प्रयास करें तो उससे मेरा अंतर्तम कभी नहीं बदलता।

एक पौधे में हम ऊपर-ऊपर से कुछ परिवर्तन करें, वह पौधा कमजोर हो रहा था। हमने उसकी पत्तियों पर हरा रंग पेंट कर दिया ताकि पत्तियां चमकीली नजर आएं वरना वह सूखने लगी थीं। उसके फूल मुरझाा गए, हमने उस पर पास्टिक के फूल चिपका दिए। उसकी सुगंध खत्म हो गई थी, हमने स्प्रे कर दिया। क्या इससे पौधा स्वस्थ और मजबूत हो गया? नहीं, जरा भी नहीं। पौधे की जड़ों की फिकर करनी होगी। वहां पानी देना होगा, खाद डालना होगा। तब यह पौधा स्वस्थ होगा और इसमें स्वभाविक रूप से चमक होगी, इसमें नई पत्तियां आएंगी, इसमें और-और फूल खिलेंगे और सुगंध बिखरेगी। वह प्राकृतिक होगा, वह स्वभाविक होगा और वही सुंदर है। ऊपर-ऊपर से आचरण को साधने की कोशिश थोथी और व्यर्थ है और आपके प्रश्न से ही पता चल गया है कि आपको भी मालूम हो गया है कि वह निरर्थक साबित हुआ। उससे कुछ हल नहीं होता। पाप के प्रति जो

आकर्षण है, वह बना ही हुआ है और ऊपर–ऊपर से आपने पुण्य साध लिया।

ऐसा समझो, एक आदमी पुण्य कर रहा है, उसने दान दिया है, मंदिर बनवा दिया है। क्या इसके भीतर का लोभ और लालच समाप्त हो गया? नहीं, वे पाप के बीज तो ज्यों कि त्यों मजबूत हैं। शायद यह दान–पुण्य अपने अपराध बोध को मिटाने के लिए कर रहा है। वह जो उसने लोगों का धन का शोषण किया है, इसके भीतर दंश कांटे की तरह चुभता है। उस चुभन को मिटाने के लिए उसने मंदिर बनवा दिया कि देखो मैं कितना दानी हूं? शायद यह भी इसके अहंकार के साज–सज्जा का ही है कि मुझसे बड़ा कोई दानी नहीं। समाज के लोग जान लें, गांव भर में पता लग जाए कि मैंने कितना दान दिया है। अपने गिल्ट फिलिंग को मिटा रहा है, अपने अहंकार को प्रतिष्ठित कर रहा है और इस तरह के दान देने से उसकी दुकान अब और अच्छी चलेगी। लोग कहेंगे कि यह बड़ा दानी महात्मा है। इसकी दुकान से सामान खरीदें। इसका व्यापार और अच्छा चलेगा।

याद रखना, यह दान जो उसने किया है, इसके पीछे वह जो धन शोषण का पाप है, वह होना जरूरी था वरना दान भी कहां से करता? यह बड़े मजे की बात है। हम जिनको पुण्य कह रहे हैं, वे ऐसी क्रियाएं हैं जिनको करने के पहले पाप करने जरूरी हैं। अगर एक आदमी धन शोषण नहीं करेगा, अमीर नहीं होगा तो वह दान कहां से करेगा? इसका मतलब वह दान करने के लिए पहले शोषण करना जरूरी है, पहले चोरी करना जरूरी है, बेइमानी करना जरूरी है। उस पुण्य की बुनियाद ही पाप पर टिकी है और इसलिए मैंने कहा कि ऊपर–ऊपर से हम किसी प्रकार का पुण्य साधें, अच्छा आचरण करें, सदाचरण के नियमों का पालन करें उससे हमारा अंतर्तम परिवर्तित नहीं होगा।

अच्छा हुआ यह बात आपको स्वयं ही समझ में आ गई। अब दूसरी बात समझाना बहुत आसान होगा कि भीतर कुछ करना होगा। निश्चित रूप से रूपांतरण करना है, परिवर्तन करना है; लेकिन अपनी चेतना में। जैसे मैंने कहा कि जड़ों में खाद–पानी डालना है। हमारी जड़ें कहां हैं? मनुष्य की जड़ कहां हैं? वे हमारी अंतर्आत्मा में हैं। वहां पर ध्यान की सिंचाई करनी होगी। वहां पर प्रेम का खाद डालना होगा और तब हमारा हृदय सद्भावनाओं से भरेगा, हमारा मन सद्विचारों से भरेगा और हमारी देह के तल पर सद्क्रियाएं होंगी। सब कुछ सत्यम् शिवम् सुंदरम् की दिशा में पुष्पित, पल्लवित होगा। भीतर को बदलना है। सद्गुरु उसको कहते हैं कि आचरण पर नहीं, जागरण पर मेरा जोर है। आचरण बाहरी बात है, जागरण भीतरी बात है।

गुरु जी, जब किसी में आंतरिक रूप से रूपांतरण शुरू हो जाता है, तो फिर बाहरी रूप से भी दिखाई देता है?

निश्चित रूप से बाहर तो परिवर्तित होगा ही। एक पौधे की जड़ें अगर मजबूत हो गई

हैं, उन्हें ठीक खाद-पानी और पोषण मिल गया है तो वह पौधा तो स्वस्थ होगा ही, उसमें फल-फूल आएंगे, उसके सुगंध भी बिखरेगी।

ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने भीतर ध्यानस्त हो गया, समाधिस्त हो गया अब उसके जीवन में हमें सब तरफ प्रेम की सुगंध नजर आएगी। वह व्यक्ति करुणावान होगा, वह व्यक्ति दयावान होगा। वह सारे जगत के प्रति, संपूर्ण जीवन के प्रति सम्मान भाव से भरा होगा। उसकी नजर में कोई ऊपर-नीचे कोई श्रेष्ठ और निकृष्ठ नहीं होगा। जिसने अपने भीतर परमात्मा को जान लिया 'अहम् ब्रह्मास्मि' वह जानेगा कि ब्रह्म सर्वव्यापी है, ओमनी प्रजेंट. सबके भीतर वही परमात्मा है। उसके जीवन में सबकुछ सुंदर हो जाएगा। क्योंकि भीतर वह सुंदर हो गया है। उसने आचरण को साधा नहीं है। ऐसा नहीं कि उसने दूसरों में ईश्वर को देखने की कोशिश की है, उसने अपने भीतर ईश्वर का स्वर सुन लिया और तब यह स्पष्ट हो गया कि सबके भीतर वही स्वर गूंज रहा है, सबके भीतर वही जीवन धड़क रहा है और समस्त जीवन के प्रति उसके मन में आदर, सम्मान और प्रेम की भावना आ गई।

तो ऐसे व्यक्ति का आचरण बदल जाएगा। किसी नियम से नहीं, किसी शास्त्र-सिद्धांत को सुनकर या पढ़कर नहीं। बिल्कुल स्वभाविक रूप से। यह आरोपित आचरण नहीं होगा, यह थोपा हुआ अनुशासन नहीं होगा बल्कि यह एक प्रकार का आत्मानुशासन होगा। दूसरों के द्वारा किया गया डिसिप्लिन नहीं, बल्कि स्वयं के भीतर से उपजा सेल्फ डिसिप्लिन अपने आप आया। यह साधा हुआ नहीं होगा अपने आप आया। यह फूल की खुशबू होगी जो चारों तरफ फैलेगी।

गुरु जी, परम सद्गुरु ओशो ने बहुत सारी ध्यान विधियां दी हैं। कुछ विवियां जो दिन में की जाती हैं और कुछ विधियां जो रात में की जाती हैं। जो विधियां रात्रि के लिए हैं, क्या उन्हें दिन में नहीं सकते हैं?

निश्चित रूप से अलग-अलग समय पर अलग-अलग चीजें काम करेंगी। टेक्निक अलग-अलग है। समझो सूर्योदय उगने के साथ जो ध्यान करने के लिए है, जिसमें प्राणायाम करना है और गहरी स्वास लेनी है। हाइपर ऑक्सिजनेशन, हाइपर वेंटिलेशन होगा जो हमें ऊर्जा से भर देगा। अगर तुमने यह वाला ध्यान सोने के पहले कर लिया तो तुम्हारी नींद उड़ जाएंगी। क्योंकि तुम्हारे भीतर शक्ति का जागरण हो गया। वह शक्ति तुम्हें विश्राम में सोने नहीं देगी। उल्टा ही परिणाम हो जाएगा तुम्हारी नींद गायब हो जाएगी और जब नींद गायब हो गई तो दूसरे दिन तुम्हें काम करने में मजा ही नहीं आएगा। शरी भारी-भारी लगेगा, उबासियां आएंगी, उनिंदा अनुभव करोगे। तो सब गड़बड़ हो जाएगा। जैसा कहा जा रहा है वैसा ही करना है।

अगर डॉक्टर ने नींद की गोली प्रेस्क्रिब की है कि रात को दस बजे लेना है और तुमने सुबह उठकर चाय के साथ खा ली तो तुम तो दिन भर परेशान हो जाओगे। तुम कहोगे कि कैसी औषधि है। इसमें औषधि की भूल नहीं है, यह तुम्हारी गलती है। तुमने प्रिस्क्रिप्शन को फॉलो नहीं किया। सद्गुरु ओशो की किताब है 'ध्यान विज्ञान' एक दूसरी किताब है 'ध्यान योग प्रथम और अंतिम मुक्ति' इनमें सारी ध्यान विधियों को (करीब सौ से भी ज्यादा हैं) क्लासिफाई किया गया है। भोर के समय कौन–सा, सूर्योदय के पश्चात कौन–सा, दोपहर के पूर्व कौन–सा, दोपहर के पश्चात कौन–सा, शाम के समय कौन–सा, रात्री के समय कौन–सा, रात को कभी नींद खुल जाए तब कौन–सा ये सब अलग–अलग ध्यान की विधियां हैं। उनको उचित समय पर करना ही सद्परिणाम लाएगा। अन्यथा विपरीत परिणाम भी हो सकते हैं।

दूसरा प्रश्न : अनीति, अधर्म, हिंसा, क्रोध आदि से लड़ने का उपाय बताएं।

मेरे ख्याल से पहले प्रश्न के उत्तर में आधी बात तो साफ हो ही चुकी है कि हम नीति को नहीं साध सकते। हम क्रोध के विपरीत प्रेम को भी नहीं साध सकते, हम घृणा के विपरीत करुणा को भी नहीं साध सकते। साधा हुआ सब थोपा हुआ होगा। वह तो काम नहीं आएगा। फिर कौन–सी बात काम आएगी। मैं आपको सद्गुरु ओशो की किताब 'पथ के प्रदीप' से उनके द्वारा लिखा हुआ एक पत्र पढ़कर सुनाता हूं। उसमें इस सवाल का जवाब भी मिल जाएगा।

परम गुरु ओशो लिखते हैं– 'अंधकार की चिंता छोड़ो और प्रकाश को प्रदीप्त करो। जो अंधकार का ही विचार करते रहते हैं वे प्रकाश तक कभी नहीं पहुंच पाते हैं। जीवन में बहुत अंधकार है और अंधकार की ही भांति अशुभ और अनीति है। कुछ लोग इस अंधकार को स्वीकार कर लेते हैं और तब उनके भीतर जो प्रकाश तक पहुंचने और उसे पाने की आकांक्षा थी वह क्रमशः क्षीण होती जाती है।

मैं अंधकार की इस स्वीकृति को मनुष्य का सबसे बड़ा पाप कहता हूं। यह मनुष्य का स्वयं अपने ही प्रति किया गया अपराध है। उसके दूसरों के प्रति किए गए अपराधों का जन्म इस मूल पाप से ही होता है। यह स्मरण रहे कि जो व्यक्ति अपने ही प्रति इस पाप को नहीं करता है वह किसी के भी प्रति कोई पाप नहीं कर सकता है। किंतु कुछ लोग अंधकार के स्वीकार से बचने के लिए उसके अस्वीकार में लग जाते हैं। उनका जीवन अंधकार के निषेध का ही सतत् क्रम बन जाता है। यह भी भूल है। अंधकार को मान लेने वाला भी भूल में है, उससे लड़ने

वाला भी भूल में है। न अंधकार को मानना है, न उससे लड़ना है। वे दोनों ही अज्ञान हैं। जो जानता है, वह प्रकाश को जलाने की आयोजना करता है। अंधकार की अपनी सत्ता नहीं है, वह प्रकाश का अभाव मात्र है। प्रकाश के आते ही वह नहीं पाया जाता है। और ऐसा ही अशुभ है, ऐसी ही अनीति है, ऐसा ही अधर्म है। अशुभ को, अनीति को, अधर्म को मिटाना नहीं; शुभ का, नीति का, धर्म का दीया जलाना ही पर्याप्त है। धर्म की ज्योति ही अधर्म की मृत्यु है। अंधकार से लड़ना अभाव से लड़ना है। वह विक्षिप्तता है। लड़ना है तो प्रकाश पाने के लिए लड़ो। जो प्रकाश पा लेता है वह अंधकार को मिटा ही देता है।

तीसरा प्रश्न : गुरुदेव! बुद्ध कहते हैं कि अपने दीये स्वयं बनो, ओशो कहते हैं उत्सव में जियो। दोनों उपदेशों में क्या भेद है?

कोई भेद नहीं है। एक बता रहा है कि शुरुआत कैसे करना है? अपने दीये बनो, अपने भीतर ध्यान का दीपक जलाओ और-और ज्यादा जाग्रत बनो। संत मलूक दास ने कहा है 'जागने में जागना' हमारा जो सामान्य दीनचर्या का जागरण है इससे और ज्यादा जाग्रत। हमारी कांशियसनेस सुपर कांशियसनेस हो जाए। तो बुद्ध उस तरफ इशारा कर रहे हैं कि अपने भीतर का दीया जलाओ। अपनी आत्मा की जड़ों में ध्यान का जल सींचो। और जब ओशो कह रहे हैं उत्सव मनाओ, उत्सव पूर्वक जियो तब वे बता रहे हैं इसका परिणाम क्या होगा? जिस व्यक्ति का भीतर आलोकित हो गया, प्रकाशमय हो गया उसका बाह्य जीवन उत्सवपूर्ण हो जाएगा। आनंद की अभिव्यक्ति हो जाएगा। दोनों बातों में कुछ भेद नहीं है, एक प्रकाश जलाने की बात कर रहे हैं और दूसरे बता रहे हैं कि इससे प्रकाश की किरणें फैलेंगी। एक कह रहे हैं कि जड़ों में खाद-पानी दो और दूसरे बता रहे हैं कि तुम्हारे फूल खिलेंगे और सुगंध बिखरेगी। तो एक ही प्रक्रिया के दो छोरों की बात है। इसमें से एक-एक बात अपने आप में अधूरी है। दोनों को इकट्ठा लेना। अच्छा हुआ यह सवाल किसी ने पूछा है। दोनों बातों को जोड़ा जाना चाहिए। दोनों मिलकर ही पूरी बात बनती है।

चौथा प्रश्न : मुझे ध्यान में नहीं, बल्कि संगीत, सुमिरन, भावना, सेवा भक्ति में ज्यादा आनंद आता है। तो क्या मुझसे कहीं भूल हो रही है? ध्यान में रुचि कैसे हो?

भूल आपसे नहीं हो रही है। बस आप ध्यान की जबरदस्ती कोशिश कर रहे हैं यह चूक हो गई। आपने गलत रास्ता चुन लिया। भूल आपके चलने में नहीं है; लेकिन आपने अपने रुचि और रुझान से विपरीत कुछ चुन लिया। ध्यान उन लोगों के लिए है जो विचारशील हैं, जो बुद्धि के तल पर जी रहे हैं, जो मन के तल पर जी रहे हैं। जब आपको संगीत में, सुमिरन

में, भक्ति में, गीत में, नृत्य में रुचि है, इससे पता चलता है कि आप हृदय के तल पर ज्यादा जीते हैं, मन के तल पर नहीं। आप भाव के तल पर ज्यादा जीते हैं, विचार के तल पर नहीं। आपका रास्ता दूसरा होगा। आपका रास्ता होगा श्रद्धा का, समर्पण का, भक्ति का। निश्चित रूप से वह बड़ा संगीतमय होगा।

इन दो बड़े उदाहरणों को समझ लो– एक है भगवान महावीर और दूसरी हैं भक्त शिरोमणी मीराबाई। महावीर प्रतीक हैं ध्यानी के, मीराबाई प्रतीक हैं भक्तों की। दोनों बिल्कुल भिन्न हैं एक दूसरे से। यद्यपि इन्होंने जो जाना है, अपने–अपने मार्ग से वह परम सत्य एक ही है। वह अलग–अलग नहीं है। लेकिन इनके जानने के मार्ग बिल्कुल अलग हैं। महावीर ने स्वयं के भीतर अत्यंत जागृत अवस्था में डूबकर जाना। मीराबाई ने नाचकर, गाकर, आराधना करके, प्रार्थना करके, श्रद्धा और भक्तिभाव में डूबकर सद्गुरु रैदास के चरणों में समर्पित होकर श्रद्धा से जाना। यह दोनों मार्ग बिल्कुल अलग–अलग हैं। मीराबाई के हाथ में इकतारा है। उनका रास्ता संगीतमय है। गीतों से पटा पड़ा है। अपनी रुचि के अनुसार अपना रास्ता चुनना।

इसलिए महावीर ने तो स्त्रियों को मना ही कर दिया है कि मेरे पास न आएं। क्योंकि यह रास्ता उनके लिए सही रास्ता साबित नहीं होगा। मेरा रास्ता बड़ा रूखा–सूखा, रेगिस्तान की पगडंडी जैसा है। पगडंडी भी ऐसी जो पहले से रेडिमेट बनी–बनाई नहीं है। चलोगे तो पदचिंह्न बनेंगे। मीराबाई का रास्ता किसी नदी के किनारे सुंदर बगीचे से होता हुआ रास्ता है, बिल्कुल अलग है। तुम अपनी रुचि के मुताबिक चुनना। तुम्हारे प्रश्न से स्पष्ट हो रहा है कि तुम्हारा रास्ता महावीर वाला रास्ता नहीं है। यह रूखा–सूखा रेगिस्तानी रास्ता तुम्हें पसंद नहीं आएगा। डूबो गीत में, नृत्य में, भाव में, भक्ति में, श्रद्धा में, समर्पण में वहीं तुम्हारे लिए रास्ता बन जाएगा। प्रत्येक साधक–साधिका को स्मरण रखना चाहिए कि जो चीज मेरे अनुकूल नहीं हैं, मैं उसको छोड़ दूं। और उसका पता कैसे चलेगा? अगर मेरे जीवन में उससे शांति की, प्रीति की, मुक्ति की वृद्धि नहीं हो रही है तो वह मेरे अनुकूल नहीं है। इसका यह मतलब नहीं कि वह गलत है। वह किसी और के लिए ठीक होगी। लेकिन मैं अपना रास्ता खोजूं।

आज की चर्चा को यहीं विराम देते हैं। जो भी सवाल किसी के मन में उठें, वे पत्र या एस.एम.एस या, ईमेल द्वारा हम तक अवश्य भिजवाएं। श्रृंखला के आगामी एपिसोडों में हम उन पर बात कर सकेंगे।

धन्यवाद। जय ओशो।

प्रवचन 7

अति सर्वत्र वर्जयेत

पहला प्रश्न : किसी मित्र ने पूछा है 'अति सर्वत्र वर्जयेत' क्या ओशो इस सुभाषित से राजी हैं?

बिल्कुल राजी हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण वचन है। हजारों सालों में अनेक लोगों के जीवन के अनुभवों का सार संक्षेप इन छोटे से शब्दों में समाया हुआ है। अति से हमेशा सावधान रहना और बचना। अगर हम बायीं तरफ बहुत ज्यादा गए या दायीं तरफ बहुत ज्यादा गए तब दोनों हालत में हम खाई में या गड्ढे में गिरेंगे। ठीक मध्य में है रास्ता। भगवान बुद्ध उसे कहा करते थे– 'मज्झिम निकाय', मध्य मार्ग। चीन के संत लाओत्सु ने कहा है– 'द गोल्डन मीन', स्वर्णिम मध्य, ठीक बीच में। कभी आपने सर्कस में नट को रस्सी पर चलते देखा? हाथ में एक डंडा पकड़कर वह चलता है। यदि भय पैदा होता है बायीं तरफ झुकने लगा, गिरने लगा तो जल्दी से डंडे को दाहिनी तरफ झुका लेता है और बैलेंस बन जाता है। फिर डर होता है कि दाहिने तरफ गिर जाएगा तो बायीं तरफ थोड़ा–सा झुक जाता है, डंडे को झुका लेता है और संतुलन बन जाता है।

ठीक ऐसे ही संत वही है जो संतुलित जीवन जीता हो, संत वह है जो शांत जीवन जीता हो। न सुखद उत्तेजना, न दुखद उत्तेजना। सुख और दुख दोनों उत्तेजनाएं हैं, दोनों अतियां हैं। एक अति ऐसी है जिसको हम चाहते हैं कि हो, उसे हम कहते हैं सुख। दूसरी अति ऐसी है जिसे हम चाहते हैं कि न हो। उसे हम कहते हैं दुख। एक को हम कहते हैं खुशी, दूसरे को हम कहते हैं उदासी। लेकिन दोनों में हम उत्तेजित हो जाते हैं, उत्तेजित हो जाते हैं। या तो हम खाई में गिरते हैं या गड्ढे में गिरते हैं। ठीक मध्य में है जीवन का मार्ग। तो जो संतुलित रहेगा वह शांत रहेगा। ऐसा ही व्यक्ति अपने जीवन में संतत्व का अनुभव कर पाएगा। तो 'अति सर्वत्र वर्जयेत' संस्कृत की यह कहावत अत्यंत महत्वपूर्ण है और सद्गुरु ओशो इससे पूर्णतः राजी हैं।

गुरु जी, जो पॉजिटिव थिंकिंग है, क्या वह भी सम्यकता का पार्ट है?

नहीं, पॉजिटिव थिंकिंग तो एक अति हुई, निगेटिव थिंकिंग दूसरी अति है। हमेशा इस

बात को खोजना कि क्या इसका विपरीत मौजूद है। पॉजिटिव थिंकिंग यानि सकारात्मक सोच। निगेटिव थिंकिंग यानि नकारात्मक सोच। एक व्यक्ति है जो हर चीज को एक पॉजिटिव दृष्टिकोण से देखता है और सोचता है, उसने एक खास रंग का चश्मा चढ़ा रखा है। वह आशावादी होकर जीता है। और जो दूसरा व्यक्ति है– नकारात्मक विचारों वाला, उसने दूसरे रंग का चश्मा चढ़ा रखा है और उसी से सब चीजों को देखता है, आंकता है। परिणाम स्वरूप वह निराशा में जीता है।

आशावादी और निराशावादी ये दो अतियां हैं अपनी सोच की वजह से। इन दोनों के दृष्टिकोण अतिवादी हैं। याद रखना, इन अतियों पर पेंडुलम की भांति हमारा मन डोलता है। अगर हम एक अति पर चले गए तो शीघ्र ही हम दूसरी अति पर भी पहुंचेंगे। दूसरी अति पर चले गए तो फिर वापिस लौट कर पहली अति पर जाएंगे। देखने में भ्रम पैदा होता है कि जब घड़ी का पेंडुलम बायीं तरफ जा रहा है। हमें लगता है वह बायीं तरफ जा रहा है। लेकिन वस्तुतः वह दायीं तरफ लौटने का मुमैंटम गेन कर रहा है। जब दाहिनी तरफ जा रहा है तो बायीं ओर लौटने का मुमैंटम गेन कर रहा है। एक अति पर चले गए तो फिर दूसरी अति से बच न सकोगे। समझदार वह है जो मध्य में ठहर जाता है।

तो सकारात्मक सोच और नकारात्मक सोच के मध्य में क्या है? उसी को बुद्ध ने, महावीर ने, अन्य संतों ने, सद्गुरु ओशो ने सम्यक दृष्टि कहा है। तो दो असम्यकताएं हैं पॉजिटिव और निगेटिव। मध्य में है सम्यकता। न तो हम किसी चीज को पॉजिटिव नजरिया से और न ही निगेटिव नजरिया से देखें। क्यों न हम घटना को वैसा ही देखें जैसी की वह है। हम अपनी तरफ से उसमें रंग क्यों डालें अच्छा या बुरा। कुछ लोग हर चीज की व्याख्या ऐसे करते हैं कि उससे बड़ा दुख उत्पन्न हो जाता है। उनके दुख का कारण उनका नकारात्मक दृष्टिकोण और नकारात्मक इंटरप्रिटेशन है। कुछ अन्य लोग हैं जो हर चीज का बड़ा सकारात्मक इंटरप्रिटेशन करते हैं। उनकी व्याख्या से उनको खुशी मिलती है। याद रखना घटना से नहीं, उनकी व्याख्या से।

कई बार मैं उदाहरण देता हूं – एक अस्पताल में दो मरीज आए। दोनों दुर्घटनाग्रस्त हुए ट्रेन से गिर गए थे और उनका एक–एक पैर कट गया। एक रोगी अत्यंत दुखी है और वह ईश्वर पर नाराज है कि मेरा एक पैर कट गया, अब मैं आगे का जीवन कैसे जीऊंगा? मैं इतनी पूजा–पाठ करता था, धर्म–कर्म करता था, दान–पुण्य करता था। भगवान ने किस बात का बदला लिया, जो मैं लंगड़ा हो गया। इससे तो अच्छा गर्दन पर से ट्रेन निकल जाती और मैं मर ही जाता। अपंग होकर जीवन बिताना कितना दुखदायी है। वह बहुत नाराज है, बहुत क्रोधित है। दूसरा मरीज कह रहा है कि प्रभु का लाख–लाख शुक्रिया, जान बच गई यही क्या कम है। भूल तो हमारी थी, हम चलती हुई ट्रेन में चढ़ रहे थे। गिरना तो स्वभाविक था। जरूर परमात्मा की अनुकंपा है जो उसने हमें बचा लिया। अरे एक टांग ही तो कटी है, कोई बात नहीं; आजकल तो आर्टिफिशयल लिम्ब लग जाते हैं। नकली पैर लग जाएगा काम तो चल ही जाएगा।

यह धन्यवाद से भरा है, खुश है कि जान तो बची, जान बची और लाखों पाए। पैर का

क्या है? नकली लिम्ब लग जाएगा। घटना एक ही घटी है; लेकिन इन दो व्यक्तियों की व्याख्याएं अलग-अलग हैं और उन व्याख्याओं की वजह से इनके जीवन में परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। अब एक व्यक्ति ईश्वर से नाराज है, अस्तित्व से रूठ गया है, बहुत दुखी है, उदास है। वह कह रहा है कि मैं सुसाइड ही कर लूंगा। यह नकारात्मक सोच है। और दूसरा व्यक्ति कह रहा है कि मैंने कभी भगवान की पूजा-प्रार्थना नहीं की थी, अब मैं आस्तिक हो गया। जरूर प्रभु ने ही मुझे बचाया वरना आज तो मौत सुनिश्चित थी। उसकी कृपा का एहसास हुआ। अब मैं मंदिर जाया करूंगा। अब मैं आध्यात्मिक साधना भी करूंगा। इसकी सोच बड़ी सकारात्मक है। इसके जीवन में इसके परिणाम आएंगे। दोनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न दिशाओं में चले गए। घटना एक ही घटी है दोनों के संग। सम्यक दृष्टि क्या है? वह है कि घटना जैसी है बस वैसी ही देखना। न उस पर हरा रंग चढ़ाना, न उस पर लाल रंग चढ़ाना। न उसे काला करना, न उसे सफेद करना। वह जैसी है उसको वैसा ही देखना और तब हम शांति में पहुंचते हैं। वह शांति ही अध्यात्म का लक्ष्य है और इसलिए सकारात्मक सोच और नकारात्मक सोच दोनों के मध्य में ठहरना उपयोगी है।

गुरु जी, जीवन का असली सुख बैलेंस लाइफ में है। जब ध्यान करते हैं तो मन के अंदर किस केंद्र पर केंद्रित रहना चाहिए?

केंद्रित होना फिर अति पर जाना है। इस बात को जरा गौर से समझिए। जब भी हम कहीं फोकस करते हैं तो हमने एक अति कर दी। समझो एक कमरे में हम गए, जहां पूरा अंधेरा था। मेरे हाथ में एक टार्च है और उसका फोकस मैंने एक कोने में किया। बाकि के अन्य कोनों में अंधेरा हो गया। यह एक अति है। अब मैं पलट कर दूसरे कोने में फोकस करूंगा तो तो अन्य जगह अंधेरा हो जाएगा। यह एक अति हुई। हम कहीं भी कंसंट्रेट करें, कहीं भी अपने चेतना के प्रकाश को फोकस करें। बिना अति के कैसा होगा? जैसे दीपक की लौ जल रही है। कहीं कोई लेंस नहीं लगा, कहीं कोई फोकस नहीं बन रहा सर्वत्र रोशनी व्याप्त हो रही है। यह हुआ बिना अति के। संतों की भाषा में एक शब्द आता है 'निरति' उसके दो अर्थ हैं। एक तो है चेतना के देखने की शक्ति, अंतस के आलोक को जानने की क्षमता और दूसरा अर्थ है 'निरअति' यानी नो एक्स्ट्रीम. ठीक मध्य में।

तो जब हम निरति साधना करते हैं तो भीतर के आलोक को देखते हैं। हम पाते हैं कि उसमें कहीं भी फोकस नहीं है। वह किसी एक खास दिशा में संलग्न नहीं है, बस वह सर्वव्यापी है, ओमनी प्रजेंट. परमात्मा के सारे गुण अनफोकस्ड हैं। चाहे वह ओंकार की ध्वनि हो, चाहे वह प्रभु का प्रकाश हो, चाहे वह दिव्य सुगंध और दिव्य स्वाद का अनुभव हो या वह अमृत की प्रतीति हो। कहीं कोई फोकस नहीं होता। अनफोकस्ड कांशियसनेस. विकेंद्रित चेतना। यह ध्यान का पर्यायवाची है। अक्सर लोग कंसंट्रेशन को मेडिटेशन समझ लेते हैं और बड़ी भूल हो जाती है। बहुत लोगों से मेडिटेशन की बात कहो तो वे कंसंट्रेशन करने लगते हैं। जबकि दोनों बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं। कंसंट्रेशन यानी एकाग्रता और मेडिटेशन यानी समग्रता। टार्च और दीपक की उपमा से हम समझ सकते हैं कि एकाग्रता

क्या है और समग्रता क्या है।

तो समग्रता बिना अति के है, एकाग्रता में तो ऐसी अति होगी, उसमें तो एक चुनाव हो गया। जे कृष्णमूर्ति जी एक बहुत अच्छा शब्द प्रयोग करते थे ध्यान के लिए और वह था च्वाइसलेस अवेयरनेस. निर्विकल्प जागरूकता। हमने कुछ चुना नहीं है। कोई ऑब्जेक्ट तय नहीं किया है कि इसके प्रति हम चैतन्य रहेंगे। हम बस चैतन्य हैं। किसी चीज के प्रति नहीं, उसका कोई विषय नहीं है। बस चैतन्य है और तब धीरे-धीरे हम अपने साक्षी चैतन्य के प्रति ही सजग होने लगते हैं और तब ध्यान की गहराई मिलती है। तो किसी अति पर जाने से मेडिटेशन या ध्यान नहीं होता। उसका नाम कंसंट्रेशन है।

दूसरा प्रश्न : सद्गुरु ओशो के प्रवचन में श्रोण की कथा आती है। इस कथा से हमें क्या प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए? इसे स्पष्ट करने की अनुकंपा करें।

सबसे पहले मैं श्रोण की कथा को संक्षेप में कह दूं। क्योंकि बहुत मित्रों ने वह सुनी नहीं होगी। भगवान बुद्ध का एक शिष्य था श्रोण। वह पहले राजकुमार था और बड़ा ही भोगी-विलासी प्रवृत्ति का था। फिर वह अचानक भिक्षु बन गया। मन की प्रवृत्ति है, एक अति से दूसरी अति पर जाना। पहले उसके भोग-विलास के किस्से प्रचलित थे कि उसके जैसा कोई भोगी व्यक्ति नहीं हुआ। हमेशा सुरा-सुंदरी में ही डूबा रहता। अब दूसरे किस्से प्रचलित होने लगे कि भिक्षु बनकर वह बड़ा त्यागी, तपस्वी बन गया। जहां अन्य भिक्षु दिन में एक बार भोजन करते थे, श्रोण दो दिन में एक बार भोजन लेता था। गर्मी के दिन हैं, सब भिक्षु जब भिक्षाटन के लिए जाते तो वृक्षों की छाया के नीचे चलकर जाते थे। श्रोण कड़ी धूप में बिना छाया वाली जगह से होकर गुजरता था। दूसरी अति पर वह पहुंच गया। पहले सुख-सुविधा ही उसके जीवन का लक्ष्य था। अब शरीर को कष्ट देना ही उसके जीवन का गंतव्य हो गया। चार-छः महीने में उसकी सुंदर काया सूखकर जर्जर हो गई। उसका रंग काला पड़ गया, हड्डियां-हड्डियां उभर आईं।

भगवान बुद्ध तक किस्से आते रहे, भगवान बुद्ध ने इंतजार किया छः महीने के बाद उन्होंने श्रोण को बुलाया और उससे कहा कि श्रोण, मैंने सुना है कि जब तुम राजकुमार हुआ करते थे उस समय तुम्हें संगीत का बड़ा शौक था तुम वीणा बहुत अच्छी बजाते थे। मैं एक सवाल पूछना चाहता हूं। यदि वीणा के तार बिल्कुल ढीले हों, क्या संगीत उत्पन्न होगा? श्रोण ने कहा नहीं भगवन, अगर तार ढीले हैं तो टंकार ही पैदा नहीं होगी, ध्वनि ही उत्पन्न नहीं होगी। बुद्ध ने कहा अच्छा! यदि वीणा के तार बहुत कसे हों, क्या तब संगीत उत्पन्न होता है? श्रोण ने कहा नहीं भगवन, अगर तार बहुत कसे हैं उंगलियों से छूते ही वह तो टूट ही जाएंगे। संगीत पैदा नहीं होगा। बुद्ध ने पूछा फिर संगीत कब जन्मता है? श्रोण ने कहा जब तार मध्य की अवस्था में हों। न बहुत कसे, न बहुत ढीले। बुद्ध मुस्कराए और उन्होंने कहा कि श्रोण, मैं इंतजार कर रहा था कि तुम तार को पूरा कस लो। अब तुम्हें बात समझ में आएगी।

जैसे तुम वीणा बजाने में कुशल हो, ठीक वैसे ही मैंने भी जीवन की वीणा को बजाना

सीखा है और उसकी कला भी यही है। जब तुम भोगी–विलासी प्रवृत्ति में राजकुमार का जीवन जी रहे थे तब तुम्हारी जीवन वीणा के तार बिल्कुल ढीले थे। उनसे कोई मधुर स्वर उत्पन्न न होता था और भिक्षु बनकर तुमने तारों को बहुत ज्यादा कस दिया। दूसरी अति पर चले गए। अभी भी संगीत पैदा नहीं हो रहा। जीवन का असली संगीत तो तब उत्पन्न होता है, जब तार मध्य की अवस्था में हो।

सद्गुरु ओशो का संदेश, भगवान बुद्ध का संदेश और समस्त ज्ञानियों का संदेश यही है 'अति सर्वत्र वर्जयेत' सद्गुरु ओशो की एक किताब है 'पथ के प्रदीप' जिनमें उनके द्वारा लिखे सौ पत्र संकलित हैं। मैं आपको एक पत्र पढ़कर सुनाना चाहूंगा–

'जीवन सत्य, संयम और संगीत से मिलता है। जो किसी भी दिशा में अति करते हैं वे मार्ग से भटक जाते हैं। मनुष्य का मन अतियों में डोलता और चलता है। एक अति से दूसरी अति पर चला जाना उसे बहुत आसान है। ऐसा उसका स्वभाव ही है। शरीर के प्रति जो बहुत आसक्त है वही व्यक्ति प्रतिक्रिया में शरीर के प्रति बहुत कठोर और क्रूर हो सकता है। इस कठोरता और क्रूरता में भी वही आसक्ति प्रछन्न होती है और इसलिए जैसे वह पहले शरीर से बंधा था वैसा ही अब भी बिल्कुल विपरीत दिशा से शरीर से ही बंधा होता है। शरीर का ही चिंतन पहले था, शरीर का ही चिंतन अब भी होता है।

इस भांति विपरीत अति पर जाकर मन धोखा दे देता है और उसकी जो मूल वृत्ति थी उसे बचा लेता है। मन का सदा अतियों में चलने का कारण यही है। मन की इस विपरीत अतियों में चलने की प्रवृत्ति को ही मैं असंयम कहता हूं। फिर संयम मैं किसे कहता हूं? दो अतियों के बीच मध्य खोजने और उस मध्य में थिर होने का नाम संयम है और जहां संयम होता है, जीवन वहां संगीत से भर जाता है। संगीत संयम का फल है। शरीर के प्रति राग और विराग का मध्य खोजने और उसमें स्थिर होने से वीतरागता का संयम उपलब्ध होता है।

संसार के प्रति आसक्ति और विरक्ति का मध्य खोजने और उसमें स्थिर होने से संन्यास का संयम उपलब्ध होता है और इस भांति जो समस्त अतियों में संयम को साधता है, वह अतियों के अतीत हो जाता है और उसके जीवन में निर्वाण के संगीत का अवतरण होता है। मनुष्य मन अतियों में जीता है और यदि अतियां न हों, तो वह विलीन हो जाता है। उसके कोलाहल के विलीन हो जाने पर सहज ही वह संगीत सुनाई पड़ने लगता है, जो कि सदा सदैय से ही स्वयं के भीतर निनादित हो रहा है। स्वयं का वह संगीत ही निर्वाण है, मोक्ष है, परम ब्रह्म है। पानी में डूबने से बचना है तो आग की लपटों में स्वयं को डाल देना बचाव का यह कोई मार्ग नहीं है।'

प्रवचन 8

सदा मौजूद है आशा की किरण

प्रश्न : सच्चिदानंद रूपी सर्वव्यापी विराट परमात्मा को मैं एक क्षुद्र प्राणी किस तरह प्राप्त कर सकता हूं? यह ख्याल आते ही घोर निराशा घेर लेती है। मुझे क्या करना चाहिए रास्ता दिखाएं?

घोर निराशा की कल्पना बंद कर देनी चाहिए। मुझे एक चुटकुला याद आ रहा है। मुल्ला नसरुद्दीन एक पानी के जहाज में नौकरी के लिए इंटरव्यू देने गया था। किसी ने उससे पूछा कि आप क्या करेंगे यदि जहाज डूबने लगे या बहुत जोर का तूफान आया हुआ हो? नसरुद्दीन ने कहा कि मैं लंगर डाल दूंगा। आफिसर ने पूछा कि मान लो आंधियां बहुत तेज हैं और जहाज तब भी डामाडोल है अब डूबा कि तब डूबा फिर क्या करोगे? नसरुद्दीन ने कहा एक लंगर और डाल दूंगा, उससे जहाज स्थिर हो जाएगा। आफिसर ने कहा कि और तेज आंधी आ गई फिर क्या करोगे? उसने कहा एक लंगर और डाल दूंगा। ऐसे छः-सात बार लंगर डालते गए। आफिसर ने पूछा आखिर यह बताओ कि इतने सारे लंगर तुम कहां से ला रहे हो? नसरुद्दीन ने कहा जहां से आप इतने सारे आंधी और तूफान ला रहे हैं, वहीं से मैं लंगर ला रहा हूं। कल्पना ही तो है।

ठीक ऐसे ही तुम एक नकारात्मक कल्पना कर रहे हो। तुम कह रहे कि मैं एक क्षुद्र प्राणी। उस विराट सर्वव्यापी परमात्मा को, सच्चिदानंद को कैसे पा सकता हूं? और ऐसा सोचकर तुम दुखी हो गए। अपनी इस निगेटिव कल्पना से बाहर आओ और तथ्य को देखो। चलो अभी तुम्हारी मान्यता ही सही, अगर इसी मान्यता को अगर ठीक से समझो तो निराशा के बाहर आ जाओगे। तुम कह रहे परमात्मा को सर्वव्यापी। सर्वव्यापी है तो तुम्हारे भीतर भी होगा, मेरे भीतर भी होगा, सबके भीतर भी होगा। तब तो जानना बहुत आसान है। फिर तो हम क्षुद्र न रहें। अगर मेरे भीतर विराट मौजूद है तो फिर मैं क्षुद्र कैसे रहा? न तो कोई महान है, न कोई दीन-हीन है। श्रेष्ठता और हीनता ये दोनों अहंकार की बातें हैं। तुम

सोच रहे हो कि बड़ी विनम्र बात कह रहे हो कि मैं क्षुद्र मनुष्य। नहीं, यह भी अहंकार का शीर्षासन करता हुआ रूप है। एक रूप तो स्पष्ट दिखाई देता है कि कोई कहे कि मैं बड़ा महान, मुझसे ऊपर कोई भी नहीं, मैं सर्वश्रेष्ठ, मैं सर्वोपरी। यह सबको समझ में आता है कि बड़ा अभिमानी है। कोई दूसरा व्यक्ति कहता कि मैं विनम्र, मैं आपकी चरणों की धूल, मैं तो कुछ भी नहीं, मैं तो एक क्षुद्र मनुष्य हूं। यह भी अहंकार ही है सिर के बल खड़ा। फर्क कुछ भी नहीं हुआ। सत्य को देखो न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। अगर परमात्मा सर्वव्यापी है तो सब में वही है। मनुष्यों में ही क्यों? पशु-पंक्षियों, प्राणियों, वनस्पतियों में भी वही है, कीट-पतंगों में भी वही है। फिर तो देह उसका मंदिर है, जिसमें वह विराजमान है। फिर तो इस शरीर को भी गरिमा मिल गई। नहीं, न कोई क्षुद्र मनुष्य है, न कोई महान मनुष्य है। हम सब प्रभु के भिन्न-भिन्न रूप हैं, भिन्न-भिन्न आकृतियां हैं, जिनमें प्रभु समाया हुआ है।

ऐसा तुम्हीं कह रहे हो सर्वव्यापी। वह तुम्हारे ही शब्द से मैं समझा रहा हूं। अगर वह सर्वव्यापी है फिर तुम क्षुद्र नहीं। कोई भी क्षुद्र नहीं और तब निराश होने की कोई जरूरत नहीं। अपने भीतर अपनी अंतर्आत्मा को जानो, पहचानो और तुम परमात्मा को पा जाओगे। क्योंकि वह सर्वव्यापी है। वह सच्चिदानंद है, फिर निराशा कैसी? अपनी आत्मा में जरा टटोलोगे और तुम परम आनंद का सूत्र पा लोगे। वह तुम्हारे भीतर मौजूद है। गलती कहां हो रही है? तुम प्रभु को खोजना चाह रहे हो बाहर और तब इस प्रकार की निगेटिव धारणा उत्पन्न हो जाती है। तुम चले मंदिर-मस्जिद किसी तीर्थ स्नान में खोजने के लिए, तब तुमको धीरे-धीरे निराशा घेर लेगी कि प्रभु तो कहीं मिल नहीं रहा। तुम्हारी वह व्यक्तिवाची ईश्वर की धारणा ही तुम्हें दुखी कर रही है। लेकिन यह धारणा तुम्हारी कल्पना है। अभी प्रश्न पूछते समय तो तुमने बड़े अच्छे-अच्छे शब्द उपयोग किए। उपनिषद के वाणी का उपयोग कर लिया सर्वव्यापी, सच्चिदानंद, विराट स्वरूप। उसका भाव और अर्थ तुमने नहीं पकड़ा। जरा गौर से अपने प्रश्न को दोबारा पढ़ना और तुम्हें समझ में आ जाएगा कहां भूल हो रही है।

दो बातें मिश्रित हो रही हैं। ऊंचे-ऊंचे शब्द उपयोग कर रहे हैं जो कि सच है, और बचकानी धारणा क्षुद्र मनुष्य होने की वह मौजूद है। इन दोनों बातों का तो कोई ताल-मेल ही नहीं हो रहा। जरा गौर से टटोलेंगे और सिर्फ सोचने-विचारने की बात नहीं है, ध्यान में अपने भीतर डूबने की बात है और तब आप पाएंगे कि सूत्र मिल गया। जैसे माला में सैकड़ों मनके हैं, लेकिन सबके भीतर एक ही धागा पिरोया हुआ है। ठीक ऐसे ही हम सात अरब लोग दुनिया में हैं, हमसे पहले खरबों-खरबों लोग हो चुके और बाद में भी होंगे। और मनुष्य के अलावा अनंत-अनंत भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी हैं। सबमें जीवन का एक ही धागा पिरोया हुआ है। उस धागे को ही हम परमात्मा कहते हैं।

तो कोई मनका अगर पूछे कि उस सर्वव्यापी धागे को कहां पाऊं? उससे कहेंगे कि

अपने भीतर। दूर तो तुम ढूंढ भी नहीं सकते, दूर कैसे जाओगे। और याद रखना, बाहर का जगत विज्ञान का क्षेत्र है। वहां वैज्ञानिक अन्वेषण करते हैं। अध्यात्म का क्षेत्र अपने भीतर है। अध्यात्म का मतलब ही होता है आत्मा से संबंधित, स्वयं से संबंधित। अगर तुम बाहर खोज में गए भटक जाओगे परमात्मा वहां नहीं मिलेगा। वहां तो पदार्थ मिलेगा। वहां दूसरे मनके मिलेंगे। धागा वहां नहीं मिलेगा। धागे को खोजना है तो अपने भीतर खोजो। हां, जब तुम खोज लोगे तब तुम पाओगे कि सबके भीतर भी वही है। निश्चित रूप से वह सच्चिदानंद स्वरूप, विराट परमात्मा सर्वव्यापी है। लेकिन खोजना कहां है? अपने भीतर। कबीर साहब कहते हैं–

'मोको कहां ढूंढ़े रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।'

निकट से निकट है वह और तब एक आशावादी दृष्टिकोण पैदा होता है कि जब निकट है तो मैं खोज सकता हूं। फिर तो कोई कठिन बात ही नहीं रही। वह आत्मा के रूप में ही मौजूद है परमात्मा। खोजना बड़ा आसान है, स्वयं को जानने से सरल और भला क्या हो सकता है?

गुरु जी, जैसे आपने ने कहा कि स्वयं को जानने के लिए तो अहंकार के बहुत से सूक्ष्म रूप होते हैं। तो अपने प्रति कैसे सचेत रहा जा सकता है?

हां, जब हम 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसके भिन्न–भिन्न अर्थ हो जाते हैं। यदि हमारा तादात्म्य अपने तन और मन से है तो अहंकार घटित होता है। अधिकांश पुरुषों का तादात्म्य अपने मन से होता है, अपने विचारों से होता है। अधिकांश स्त्रियों का तादात्म्य अपने तन से, शरीर से, रूप से, सौंदर्य से होता है। लेकिन ये अहंकार के दो रूप हुए। एक तीसरा और है 'मैं' अगर उसको 'मैं' कहना चाहें तो उसको कह सकते हैं– वह है हमारी आत्मसत्ता। वह हमारे भीतर की कांशियसनेस, चैतन्य है। वह इस तन–मन से संबंधित नहीं, वह इन दोनों की द्रष्टा है। अब बड़ी मुश्किल है, भाषा में तो एक ही शब्द है 'मैं' भगवान कृष्ण जब कहते हैं कि 'मैं सूर्य के पहले भी था' यह किस 'मैं' की बात कर रहे हैं? वे कृष्ण रूपी 'मैं' की बात नहीं कर रहे हैं जिसको अर्जुन अपना मित्र समझता है। वे अपनी चैतन्य की बात कर रहे हैं जो सृष्टि के भी पूर्व में थी। जब पृथ्वी भी नहीं थी, सूरज भी नहीं था तब भी वह थे।

ईसा मसीह कहते हैं कि जब प्रथम पैगम्बर अब्राहिम नहीं हुए थे तब भी मैं था। यह किस 'मैं' की बात कर रहे हैं? यह ईसा मसीह मरियम और बढ़ई जोशेफ का बेटा यह तो अभी–अभी पैदा हुआ कुछ साल पहले। तैंतीस साल की उम्र में तो उनको सूली ही लग गई।

यह कौन था जो अब्राहम के पहले पैदा हुआ? यह अपनी चेतना की बात कर रहे हैं। तो कहना तो 'मैं' ही पड़ेगा और क्या कहें, कैसे कहें? कोई और शब्द स्तेमाल करेंगे तब भी कंफ्यूज़न खड़ा होगा।

तो आपने बिल्कुल ठीक पूछा है, 'मैं' मैं के भिन्न-भिन्न रूप हो गए। एक हो गया अहंकार यानी इगो। एक हो गया आत्मा यानी सेल्फ, कांशियसनेस. तो एक तन-मन से संबंधित है, दूसरा चेतन से संबंधित है। लेकिन भाषा में चूंकि हम एक ही शब्द का प्रयोग कर रहे हैं इसलिए विभ्रम की संभावना पैदा हो जाती है। तो इसका हमें स्मरण रखना चाहिए कब 'मैं' का अर्थ इगो है और कब 'मैं' का अर्थ आत्मा है।

दूसरा प्रश्न : जिंदगी में अनेक नेगिटिव घटनाओं को देखकर मन में निराशा छा गई है, डिप्रेशन की दवाईयां लीं, किंतु कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। क्या मुझे ध्यान से राहत मिल सकेगी?

इसके पहले कि ध्यान में डूबो एक और महत्वपूर्ण बात होगी। माना कि बहुत नकारात्मक घटनाएं हुईं हैं, कुछ तो पॉजिटिव हुआ होगा। चलो आज नहीं हो रहा है, कभी पहले हुआ होगा। जरा उसका स्मरण करो। ठीक है आज अशांति है, बेचैनी है, डिप्रेशन है। कभी तो कुछ शांति के पल तुमने जाने होंगे, कभी तो चैन की बांसुरी बजाई होगी, कभी तो जीवन में प्रेम घटित हुआ होगा, कभी तो खुशी की कोई लहर आई होगी। जरा उनको स्मरण करो और तुम पाओगे कि धीरे, धीरे इस उदासी के घेरे से बाहर निकलना शुरुआत हो गई, आरंभ हो गया। जब भी कुछ नकारात्मक तुम्हें घेर ले, कुछ सकारात्मक का स्मरण करना। जब निगेटिव एटिट्यूड से तुम घिर जाओ उस समय कुछ ख्याल करना कुछ पॉजिटिविटी का। और निश्चित रूप से तुम्हारे जीवन में बहुत कुछ पॉजिटिव हुआ है। हो तो आज भी रहा है। आपकी श्वास चल रही है, हृदय धड़क रहा है, यह जीवन मौजूद है और क्या चाहिए? बहुत कुछ सुंदर हो रहा है। चलो आज तुम्हें नहीं दिखाई दे रहा कोई बात नहीं, पहले कभी तो हुआ होगा। उसकी याद करो और उस सूत्र को पकड़कर भी तुम डिप्रेशन के बाहर निकल सकते हो।

सद्गुरु ओशो ने 'पथ के प्रदीप' नामक पुस्तक में जो पत्र लिखे हैं, उन पत्रों में एक बहुत प्यारी कहानी संकलित है। वह मैं आपको पढ़ कर सुनाना चाहूंगा।

'अंधकार से भरी रात्रि में प्रकाश की एक किरण का होना भी सौभाग्य है। क्योंकि, जो उसका अनुसरण करते हैं, वे प्रकाश के स्रोत तक पहुंच ही जाते हैं। एक राजा ने किसी कारण नाराज होकर अपने वजीर को एक बहुत बड़ी मीनार के ऊपर कैद कर दिया था। एक

प्रकार से यह अत्यंत कष्टप्रद मृत्युदंड ही था। न तो उसे कोई भोजन पहुंचाया जाता था और न उस गगन चुंबी मीनार से कूदकर ही उसके भागने की कोई संभावना थी। वह वजीर जब कैद करके मीनार की तरफ ले जाया जा रहा था तो लोगों ने देखा कि वह जरा भी चिंतित और दुखी नहीं है। विपरीत, वह सदा की भांति आनंदित और प्रसन्न है। उसकी पत्नी ने उसे रोते हुए विदा दी और उससे पूछा कि वह प्रसन्न क्यों है? उसने कहा कि यदि रेशम का अत्यंत पतला सूत भी मेरे पास पहुंचाया जा सका तो मैं स्वतंत्र हो जाऊंगा और क्या इतना-सा काम तुम नहीं कर सकोगी? उसकी पत्नी ने बहुत सोचा, लेकिन उस ऊंची मीनार पर रेशम का सूत भी पहुंचाने का कोई उपाय उसकी समझ में नहीं आया।

उसने एक फकीर से पूछा, फकीर ने कहा धंग नाम के कीड़े को पकड़ो। उसके पैर में रेशम के धागे को बांध दो और उसकी मूंछों पर शहद की एक बूंद रख कर उसे मीनार की ओर छोड़ दो। उसी रात्रि यह किया गया। वह कीड़ा सामने मधु की गंध पाकर उसे पाने के लोभ में धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगा। उसने अंततः अपनी लंबी यात्रा पूरी कर ली और उसके साथ रेशम का एक छोर मीनार पर बंद कैदी के हाथ में पहुंच गया। वह रेशम का पतला धागा उसकी मुक्ति और जीवन बन गया। क्योंकि फिर सूत का धागा बांधकर ऊपर पहुंचाया गया, फिर सूत के धागे से डोरी पहुंचाई गई और फिर डोरी से मोटा रस्सा पहुंचाया गया। उस रस्से के सहारे वह कैद के बाहर हो गया। इसलिए मैं कहता हूं कि सूर्य तक पहुंचने के लिए प्रकाश की एक किरण भी बहुत है और वह किरण किसी को पहुंचानी भी नहीं है। वह प्रत्येक के पास है। जो उस किरण को खोज लेते हैं, वे सूर्य को भी पा लेते हैं। मनुष्य के भीतर जो जीवन है, वह अमृत्व की किरण है। जो बोध है, वह बुद्धत्व की बूंद है और जो आनंद है वह सच्चिदानंद की झलक है।'

थोड़ा-सा अपने भीतर डूबें और पाएंगे कि हमारे भीतर जीवंतता है, संवेदनशीलता है, चैतन्यता है। थोड़ी-सी खुशी है, चलो उसी रेशम के धागे को पकड़ो और तुम सच्चिदानंद के विराट सागर तक पहुंच जाओगे। वह हमसे कहीं दूर नहीं, अपने ही भीतर है। इसलिए निराशा में डूबने की कोई जरूरत नहीं। आशा की किरण हमेशा मौजूद है।

तीसरा प्रश्न : सद्गुरु, ध्यान करते समय कहा जाता है कि धीमी और गहरी सांस लें। ऐसा क्यों कहा जाता है?

हमारा मन हमारी श्वास से संयुक्त है। दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। आपने गौर किया होगा कि जब मन अशांत है तो एक विशेष प्रकार की श्वास चलती है। जब मन खुश है, अलग प्रकार की श्वास चलती है, जब उदास है तब अलग ढंग की सांस चलती है। जब मन को क्रोध पकड़ लेता है, श्वास का पैटर्न बदल जाता है। जब काम वासना मन को घेर लेती है, श्वास का पैटर्न बिल्कुल भिन्न हो जाता है। हमारी अलग–अलग मनोदशाएं और भावदशाएं हमारी श्वास से जुड़ी हुई हैं। रात नींद में धीमी और गहरी श्वास चलती है। अगर सांसें वैसे नहीं चलेंगे तो हम सो ही नहीं पाएंगे, हम रिलैक्स नहीं हो पाएंगे। अगर दिन में भी नींद का, विश्राम का, शांति का अनुभव करना चाहते हैं तो धीमी और गहरी श्वास का प्रयोग करें। यह ध्यान के लिए अत्यंत सहयोगी है।

अब यहां पर एक छोटा–सा भेद बताना चाहूंगा कि सम्मोहन या योग निद्रा के प्रयोग में भी धीमी, गहरी श्वास का उपयोग किया जाता है और ध्यान के लिए, मेडिटेशन, जागरण के लिए भी। शुरुआत में दोनों के लिए कामन है। लेकिन अंत में जाकर भेद हो जाएगा। सम्मोहन में जैसे ही चित्त शांत और शिथिल हो जाएगा शरीर रिलैक्स हो जाएगा। हम कहेंगे अब नींद जैसी अवस्था आ रही है, ऐसी भावना करो ताकि तुम सम्मोहन में, योग निद्रा में डूब सको। और ध्यान के लिए जब हम प्रयोग करेंगे तब चित्त और शरीर के शांत और शिथिल होने पर, तब हम कहेंगे और–और जागो। सुपर कांशियस में प्रवेश करो।

तो शुरुआत में सम्मोहन का प्रयोग और मेडिटेशन का प्रयोग आपस में मिलते–जुलते हैं। धीमी गहरी सांस दोनों में कामन है। इससे शरीर रिलैक्स्ड होगा, मन शांत होगा, भावनाओं का उहापोह समाप्त होगा और उस शांति की अवस्था में फिर गहरी डुबकी लग सकती है। अब आगे निर्भर करता है हम निद्रा की ओर बढ़ेंगे या जागरण की ओर बढ़ेंगे। मैंने सुना है कि एक दम्पति की तकरार हो रही थी। पति ने कहा– आज फिर नये सलवार शूट क्यों चाहिए? तुम्हारी अलमारी तो कपड़ों से भरी पड़ी है! पत्नी बोली– अरे वो कपड़े तो मोहल्ले की सारी औरतें देख चुकी हैं! पति ने फरमाया– तो फिर सूट क्या लेना, हम मोहल्ला ही बदल लेते हैं! वह सस्ता पड़ेगा। जब सारे मोहल्ले खत्म हो जाएंगे तब शहर बदल लेंगे। अंततः देश बदल लेंगे।

स्वयं को बदलना है। आत्म रूपांतरण से गुजरना है। सांस की बदलाहट से पूरी जिंदगी परिवर्तित हो सकती है। सांस से ही तो जीवन है। इसीलिए तो हम सांस को प्राण कहते हैं। सम्मोहन और ध्यान दोनों में वह उपयोगी है।

जय ओशो।

प्रवचन 9

सच्ची और झूठी प्रार्थना

पहला प्रश्न : सद्गुरु, एक मित्र ने पूछा है कि हमें अपने बच्चों को बताना चाहिए कि ईश्वर है या नहीं?

यहीं बताना चाहिए कि बेटा, मुझे नहीं पता कि ईश्वर है या नहीं। अगर हो सके तो तुम खोजना। हमें ऑथेंटिक और प्रामाणिक होना चाहिए। आज तक मनुष्य जाति में ऐसा नहीं हो पाया। आस्तिक लोग अपने बच्चों को समझाते हैं अपनी आस्तिकता के बारे में। ईश्वर संबंधी अपने अंधविश्वास पुरानी पीढ़ी, अपनी नई पीढ़ी को दे जाती है और जो लोग नास्तिक हैं वे भी ऐसा ही करते हैं। वे भी अपने अंधविश्वास बच्चों को दे जाते हैं।

दोनों ही गलत हैं। याद रखना– आस्तिकता भी, नास्तिकता भी दोनों ही अंधविश्वास हैं। दोनों अंधे हैं लेकिन दोनों की मान्यताएं अलग–अलग हैं। एक भरोसा करता है कि सूरज है और एक कहता है कि मैं नहीं मानता कि सूरज है। लेकिन हैं दोनों अंधे। इनके जीवन में कोई फर्क नहीं है। दोनों को टटोल–टटोल कर चलना पड़ता है, दोनों गड्ढों में गिरते हैं, दीवार से टकराते हैं। मान्यताएं इनकी अलग–अलग हैं।

तो सवाल यह नहीं है कि तुम सूरज को मानते हो कि नहीं मानते हो। सवाल जानने का है, मानने का नहीं। कितना अच्छा होगा जब दुनिया में ऐसा युग आए उसको मैं कहूंगा सतयुग। जब पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी कोई भी अंधविश्वास न पकड़ाए। बिल्कुल ऑथेंटिक होकर ईमानदारी से बताएं। जो हम जानते हैं, वह हम तुमसे कहेंगे, जो हम नहीं जानते वह तुमसे नहीं कहेंगे। हमने खोजा, तलाशा। तुम भी खोजना, तलाशना हो सकता है कि तुम्हें मिल जाए। मिल जाए तो हमें बताना किस विधि से तुमने खोजा। फिर हम भी उसी विधि से खोजने का प्रयास करेंगे। थोड़ा ईमानदार बनो। न किसी को आस्तिक बनाने का प्रयास करो, न ही नास्तिक बनाने का प्रयास करो।

सोवियत रूस में और चीन में साम्यवादी सरकार आने के पश्चात सबको जबरदस्ती नास्तिक बनाया गया। यह करीब–करीब वैसा ही है, जैसे कि पुराने जमाने में साम्यवाद

आने के पहले दुनिया की सारी सरकारें करीब–करीब आस्तिक सरकारें थीं और उन्होंने अपनी मर्जी के मुताबिक प्रजा को भी उसी रंग में ढाल दिया। चीन का राजा बौद्ध भिक्षुओं से प्रभावित हो गया और उसने पूरे चीन को आदेश दे दिया बौद्ध होने के लिए। कहीं मुसलमान सम्राट था तो उस बादशाह ने आज्ञा दे दी सबको मुसलमान होना पड़ेगा वरना जीवित रहना मुश्किल। इसी प्रकार जोर जबरदस्ती से सारे धर्म चलते रहे। कहीं कोई बादशाह करता रहा वह जोर जबरदस्ती और घर में माता–पिता तो कर ही रहे थे। उनके माता–पिता उनको पकड़ा गए थे। उन्होंने अपने बच्चों को पकड़ा दिया और वही काम बच्चे आगे करेंगे। हजारों साल से यह अंधापन चल रहा है। अब जरूरत है आंख खोलने की।

तो मैं नहीं कहूंगा कि अपने बच्चों को ईश्वर के बारे में आप बताएं। बताएं तो इतना ही बताएं कि हमें नहीं पता है, हम सुनते हैं कि शास्त्रों में लिखा है कि कोई ईश्वर है। लेकिन इसके विपरीत ग्रंथ भी है। नास्तिकों की किताबें भी है, वे कहते हैं कि नहीं है। यह एक शोध का विषय है, खोज का विषय है। हमने कोशिश की है, लेकिन हम इसका उत्तर नहीं जान सके। अगर तुम्हें उत्सुकता जागे तुम खोजना। अगर मिल जाए तो फिर हमें बताना। ईमानदार होना चाहिए। तब फिर बच्चे अपने माता–पिता का सम्मान करेंगे। अन्यथा वे जल्दी ही पकड़ लेते हैं कि हमारे पेरेंट्स हमसे झूठ बोलते थे। उनको खुद ही कुछ नहीं पता था और हमें जबरदस्ती झूठी बातें बता गए। फिर परमात्मा तो उनके मन से हट ही जाता है, माता–पिता वे भी मन से हट जाते हैं, उनके प्रति भी आदर नहीं रह जाता। ईश्वर पर तो श्रद्धा खत्म हो जाती है, अपने पेरेंटस पर भी भरोसा टूट जाता है।

दूसरा प्रश्न : मेरी प्रार्थनाएं भगवान सुनता नहीं, एक भी पूरी नहीं करता। क्या मेरी प्रार्थनाएं सच्ची नहीं हैं?

अब देखिए सवाल किसी ऐसे सज्जन ने पूछा है कि जिनके माता–पिता उनको बता गए हैं कि कहीं भगवान हैं और प्रार्थना करने से वह सुनेगा और तुम्हारी इच्छा पूरी करेगा। इन सारी कपोल–कल्पित कल्पनाओं को धर्म मत समझना। ऐसा कहीं कोई ईश्वर आकाश में, स्वर्ग में, स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान नहीं है जो हमारी प्रार्थनाएं सुनेगा और हमारी प्रार्थनाओं में है क्या? कुछ सुनने जैसा है क्या? खुशामत है, चमचागिरी है, स्तुति है, झूठी तारीफ है, जिसे हम जानते नहीं उसके बारे में हम बड़ी–बड़ी बातें कह रहे हैं कि हे प्रभु तू सर्वशक्तिमान है! और इसके पीछे कारण क्या है? हम अपनी इच्छाएं उससे पूरी करवाना चाहते हैं। हम भी काफी शक्तिशाली हैं और हम पूरी नहीं कर पाए अब हमको हमसे भी ज्यादा सुपर पावर चाहिए, सर्वशक्तिमान चाहिए जो उनको पूरी कर दे। हमारी प्रार्थनाओं में स्तुति है, उसके बाद शिकायते हैं, कि यह–यह गलत हो रहा है ऐसा नहीं होना चाहिए और फिर

हमारी सलाह है हे प्रभु! ऐसा कर दे, हे प्रभु वैसा कर दे। यह तीन बाते हैं हमारी प्रार्थना में। चमचागिरी, शिकायत और सलाह। याचना, हम मांग रहे हैं यह दे दे, वह दे दे।

जरा सोचो कोई भिखारी जबरदस्ती आपके पीछे पड़ जाए, आपसे कुछ लेने की कोशिश करे, क्या आप उसके प्रति प्रसन्नता का भाव महसूस करेंगे या नाराजगी महसूस करेंगे? निश्चित आप उसकी शक्ल भी देखना पसंद नहीं करोगे। ठीक वही भगवान और भक्तों के बीच में हुआ है। भक्त भिखमंगों जैसे मांग रहे हैं मंदिर में जाकर, मस्जिद में जाकर, गुरुद्वारों में, चर्चों में, फकीरों की मजारों पर जाकर लोगों की प्रार्थनाएं सुनो। कल्पना करो कि मान लो तुम्हीं ईश्वर हो। तुम वहां से भाग जाना चाहोगे। यह भिखमंगों की प्रार्थनाएं जो खींचना चाह रहे हैं, जोर जबरदस्ती से कुछ प्राप्त करना चाह रहे हैं। कौन इसके बीच टिकना चाहेगा? कई बार मैं मजाक में कहता हूं कि परमात्मा सर्वव्यापी नहीं है। पहले हुआ करता था, जब मनुष्य जाति में धार्मिक लोग नहीं हुए थे, धर्म गुरु नहीं हुए थे, पंडित, पुरोहित, पादरी नहीं थे तब परमात्मा सर्वव्यापी था। फिर धीरे-धीरे अब वह सर्वव्यापी नहीं रहा। उसने मंदिर, मस्जिद, चर्च, मजारें इत्यादि स्थान छोड़ दिए हैं। अब वहां पर वह नहीं है। कौन सुनेगा इन सब लोगों की बकवास और ये आलसी लोग हैं, काहिल और तामसी लोग हैं अपना कर्म स्वयं नहीं करना चाहते। अपनी कामनाएं परमात्मा से पूरी करवाना चाहते हैं। ईश्वर को तुमने नौकर समझ लिया, गुलाम समझ लिया, तुम्हारा दास है वह, तुम्हारी कामनाएं पूरी करता फिरे। तुम ईश्वर से कैसा व्यवहार कर रहे हो? चलो तुम्हारी धारणा का ही ईश्वर सही, कम-से-कम थोड़ा तो सम्मान भाव रखो। नहीं, यह प्रार्थनाएं सच्ची प्रार्थनाएं नहीं हैं।

गुरु जी, फिर हमें भगवान से किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए?

भगवान से प्रार्थना करनी ही नहीं चाहिए। हम क्यों भिखमंगे बने? हमारे भीतर विराजमान वह परमात्मा का अंश है, जो आत्मा रूप में है। हम उसका अनादर कर रहे हैं भिखमंगे होकर। हम सेल्फ रेस्पेक्ट से नहीं भर रहे हैं और जहां सेल्फ रेस्पेक्ट नहीं, वहां परमात्मा के प्रति भी समादर नहीं रहा। हम उसी का अपमान कर रहे हैं। दूसरी चीज प्रार्थना में हमने परमात्मा को नौकर-चाकर बनाने की कोशिश की। उससे हम अपना काम निकलवाने का प्रयास करेंगे। यह भी आदरपूर्ण नहीं है।

तो पहली चीज प्रार्थना करनी ही नहीं चाहिए। दूसरी चीज, यदि करनी है तो फिर परमात्मा से परमात्मा ही मांगना चाहिए। क्षुद्र बातें नहीं। संसार की कामनाएं पूरी कराने के लिए परमात्मा नहीं बैठा है। अगर मांगना है, अगर वास्तव में उसके प्रति प्रेम है, लगाव है

और आदर है तो फिर पूर्ण परमात्मा को ही मांगो, उससे कम नहीं। जब तुम कोई छोटी-मोटी चीज मांगते हो तुम उसका अनादर कर रहे हो।

मुझे याद आती है एक कहानी। एक सम्राट युद्ध में जा रहा था। पड़ोसी राज्य ने उस पर आक्रमण किया था। इसने अपनी रानियों से कहा कि जब मैं विजय प्राप्त करके वापस लौटूंगा तो बताओ उस राज्य से तुम्हें क्या चाहिए? वहां पर ये-ये प्रसिद्ध चीजें बनती हैं, बिकती हैं। किसी रानी ने कुछ मांगा, किसी ने कुछ मांगा, किसी ने गहने, किसी ने वस्त्र। जो सबसे छोटी रानी थी, उसने कहा कि आप सकुशल लौट आना बस इससे बड़ी सौभाग्य की बात और क्या होगी? वह सम्राट जब विजय हासिल करके लौटा वह सारे सामान लेकर आया था। उसने अपनी सारी रानियों को जो गिफ्ट उन्होंने मांगी थीं, वे उपहार दिए और उसने यह भी घोषणा कर दी कि मेरी छोटी रानी ने मुझसे कुछ भी नहीं मांगा था, मेरा सकुशल लौट आना ही मांगा था अब मैं उसके संग ही रहूंगा बस। उसने मुझे मांगा था। पहली बार उस सम्राट ने कहा कि मुझे एक प्रकार का सम्मान का एहसास हुआ जैसे किसी की नजर में मेरी कीमत है। यह हुआ सच्चा प्रेम। जो हमने किसी से कुछ सामान मांगा हम उसके प्रति प्रेमपूर्ण नहीं हैं। हमारी नजर उसके सामान पर है, उसकी संपत्ति पर है, उस पर नहीं है। यह तो प्रेमपूर्ण होना नहीं हुआ।

तो सच्ची प्रार्थना में प्रेम का गुण होना अनिवार्य है। इसलिए मैंने कहा कि परमात्मा से अगर मांगना ही है तो परमात्मा मांगना। तीसरी ात। अगर प्रार्थना को और नीचे उतारना है, तुम इतना विराट नह मांग सकते तो स यही प्रार्थना करना कि किसी सद्‌गुरु से मिलन हो जाए। क्योंकि गुरु है द्वार प्रभु का। यदि सद्‌गुरु मिल गया, साना के सूत्र मिल गए तो आज नह तो कल तुम परमात्मा को पा ही लोगे। तो प्रकरांतर से गुरु को मांगना भी प्रभु को मांगने का ही एक ढंग हुआ। हम सीा-सीा न तो प्रभु को पहचान पाएंगे और न जानने का हम उपाय कर पाएंगे। लेकिन अगर शिष्यत्व हमारे जीवन में घट जाए, किसी गुरु का मार्गदर्शन मिल जाए जिसने स्वयं जाना है परम सत्य को, त हमारे लिए भी जानने का द्वार खुल जाएगा। इसलिए मैंने ये तीन ातें कहीं। पहली- प्रार्थना करना ही मत, साना करना प्रार्थना नह। दूसरी- अगर प्रार्थना करनी ही है, तो फिर परमात्मा को ही मांगना वही उसके प्रति प्रेम की अभिव्यि होगी। तीसरी- अगर इतना विराट तुम न मांग सको, तुम्हारी पात्रता, तुम्हारी झोली ोटी हो तो फिर सद्‌गुरु को मांगना। अर्थात् शिष्यत्व की भावना मांगना, समर्पण की भावना मांगना और त तुम पाओगे कि जल्दी ही तुमने उस परमतत्त्व को हासिल कर लिया।

गुरु जी, सद्‌गुरु ओशो के मुताबिक सच्ची प्रार्थना क्या है?

ओशो की एक किताब है 'पथ के प्रदीप' मैं उसमें से आपको एक बड़ी प्यार कहानी

(सच पूछो तो प्रेम की वह कहानी है, क्योंकि ओशो की दृष्टि में तो प्रेम ही प्रार्थना है) पढ़कर सुनाता हूं।

'प्रार्थना क्या है? प्रेम और समर्पण। और जहां प्रेम नहीं है वहां प्रार्थना नहीं है। प्रेम के स्मरण में एक अद्‌भुद घटना का उल्लेख है। नूरी, रक्काम एवं अन्य कुछ सूफी फकीरों पर काफिर होने का आरोप लगाया गया था और उन्हें मृत्यु दण्ड दिया जा रहा था। जल्लाद जब नंगी तलवार लेकर रक्काम के निकट आया तो नूरी ने उठकर स्वयं को अपने मित्र के स्थान पर अत्यंत प्रसन्नता और नम्रता के साथ पेश कर दिया। दर्शक स्तब्ध रह गए। हजारों लोगों की भीड़ थी, उनमें एक सन्नाटा दौड़ गया। जल्लाद ने कहा हे युवक! तलवार ऐसी वस्तु नहीं है, जिससे मिलने के लिए लोग इतने उत्सुक और व्याकुल हों और फिर तुम्हारी अभी बारी भी नहीं आई है।

और पता है कि फकीर नूरी ने उत्तर में क्या कहा? उसने कहा प्रेम ही मेरा धर्म है, मैं जानता हूं कि जीवन संसार में सबसे मूल्यवान वस्तु है। लेकिन प्रेम के मुकाबले वह कुछ भी नहीं है। जिसे प्रेम उपलब्ध हो जाता है, उसे जीवन खेल से ज्यादा नहीं है। संसार में जीवन श्रेष्ठ है, प्रेम जीवन से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह संसार का नहीं सत्य का अंग है और प्रेम कहता है कि जब मृत्यु आए तो अपने मित्रों के आगे हो जाओ और जब जीवन मिलता हो तो पीछे हो जाओ। इसे हम प्रार्थना कहते हैं। प्रार्थना का कोई ढांचा नहीं होता है। वह तो हृदय का सहज अंकुरन है। जैसे पर्वत से झरने बहते हैं ऐसे ही प्रेमपूर्ण हृदय से प्रार्थना का आर्विभाव होता है।'

सद्‌गुरु ओशो जिस प्रार्थना की बात कर रहे हैं, उसे करने के लिए किसी मंदिर–मस्जिद या तीर्थ स्थान में जाने की आवश्यकता नहीं है। तुम जहां हो, जैसा जीवन जी रहे हो, जो कर रहे हो उसमें प्रेम का तत्व जोड़ दो। तुम्हारे हर छोटे से छोटे कर्म में जब प्रेम जुड़ जाता है, वह कर्म फिर छोटा नहीं रह जाता। वह एक प्रार्थनापूर्ण कृत्य हो जाता है।

तुम भोजन कर रहे हो जरा होश से, ध्यान से, प्यार से, संवेदनशीलता के साथ भोजन करो और तब यह भोजन परमात्मा को लगाया हुआ भोग ही हो गया। स्नान कर रहे हो स्नान के प्रति पूरी सेंसटिविटी हो। अत्यंत प्रेमपूर्वक, सम्मानपूर्वक इस देह का सम्मान, इसकी साफ–सफाई कर रहे हो। यह परमात्मा का आवास स्थल है। तुम मंदिर को साफ–सुथरा कर रहे हो यह पूजा का कृत्य है।

मुझे याद आती है एक ध्यान विधि भगवान शिव ने विज्ञान भैरव तंत्र में देवी पार्वती से

कहीं– श्वास को ऐसे लो जैसे वह पूजा का कृत्य हो। भक्तिपूर्वक श्वास लो। अर्थात हम अपने जीवन के छोटे से छोटे कृत्य को प्रार्थनापूर्ण बना सकते हैं, प्रेमपूर्ण बनाकर। तो प्रेम और होश ये दो तत्त्व जोड़ दो, तब तुम्हारे सारे कृत्य प्रार्थना हो जाएंगे। प्रार्थना कोई शाब्दिक बात नहीं है, वह रटी–रटाई बात नहीं है जो हम औपचारिक ढंग से दोहरा दें। वह तो हमारे पूरे जीवन से अभिव्यक्त होगी। हमारा उठना, बैठना, चलना, फिरना, बोलना सब कुछ प्रार्थनामय हो सकता है यदि वह प्रेम से ओत–प्रोत हो जाए।

तो मैं नहीं कहता कि किसी विशेष स्थान पर जाकर तुम रटी–रटाई कोई प्रार्थना करो कि ईसाई प्रार्थना, कि हिन्दू प्रार्थना, कि जैन प्रार्थना। इन सबकी कोई जरूरत नहीं है। न उसको सुनने वाला कहीं बैठा है और न उसको कोई पूरी करने वाला बैठा है। जब हम प्रेमपूर्वक जीवन जीते हैं, तब याद रखना इसमें कोई याचना नहीं रही। अब तो एक सेवा का भाव है कि हम किसी के लिए कुछ कर सकें। सारी बात ही बदल गई।

हम जिसको सामान्य प्रार्थना कहते हैं उसमें याचना है, दूसरे से कुछ खींचने की कोशिश है। सद्‌गुरु ओशो जिसको सच्ची प्रार्थना कह रहे हैं, वह तो देने का भाव है। प्रेम एक दान है, मांग नहीं, भिखमंगापन नहीं।

मैंने सुना है कि एक डिग्रीधारी बुद्धिमान भिखारी बोला– कोई मुझसे पूछ रहा था कि मैं कितना कमा लेता हूँ, लेकिन मैं चुप रहा। इशारा करके बता दिया कि मैं बहरा और गूंगा हूं। दूसरे अनपढ़ भिखारी ने पूछा– मगर क्यों? पहले ने बताया– मुझे शक था कि वह इनकम टैक्स वाला है! भीख की कमाई पर जी एस टी मांगेगा।

दूसरा भिखारी– यार, तुम इतने इंटैलिजेंट हो, फिर भीख क्यों मांगते हो?

बुद्धिमान भिखारी– इंटैलिजेंट हूं, इसीलिए तो भीख मांगता हूं। हमारे भगवान बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिभावान लोग तक भीख मांगते रहे। हमारे धार्मिक देश में भिक्षुक की बड़ी महिमा–गरिमा है। इसलिए मैंने कोई छोटा–मोटा कैरियर नहीं चुना।

दुर्भाग्य से भिखमंगापन ने धार्मिक वस्त्र ओढ़ लिए हैं। वेटिकन सिटी में दो भिखारी बैठे थे। एक के हाथ में ओम्–चिह्न था और दूसरे के हाथ में जीसस का क्रॉस था। लोग वहां से निकलते और सब ओम् वाले भिखारी को गुस्से से देखते। क्रॉस पकडे हुए भिखारी को काफी पैसे दे के जाते। थोड़ी देर बाद वहां से महामहिम पोप महोदय गुजरे। उन्होंने ये देख के ओम् वाले भिखारी को कहा कि बेटा, ये क्रिश्चियन लोगों का देश है। यहाँ हिन्दू को कोई भीख नहीं देगा। वास्तव में ईसाई लोग तुम्हें जलाने के लिए क्रॉस वाले भिखारी को ज्यादा पैसा दे–देकर जा रहे हैं।

ओम् वाला भिखारी क्रॉस वाले भिखारी से हंसकर बोला– भाई मोहन लाल छुगानी, अब ये बुड्ढा क्या हम इंटैलिजेंट सिंधियों को धंधा करना सिखाएगा!

ये धंधा छोड़ो। बहुत हो चुका। सच्ची प्रार्थना में डूबो। **जय ओशो।**

प्रवचन 10

ध्यान–साधना का मुख्य बिन्दु

पहला प्रश्न : शास्त्रों में कहा गया है कि निर्मल चित्त ही चेतना है, यानी शुद्ध मन ही आत्मा है। क्या ओशो इससे सहमत हैं?

बिल्कुल सहमत हैं। यह वचन एकदम उपयुक्त है, यह सत्य है। चित्त को और चेतना को ऐसा समझना कि जैसे कोई व्यक्ति समुद्र तट पर घूमने गया। उससे हम पूछेंगे कि क्या तुम सागर देख कर आए? वह कहेगा हां, निश्चित रूप से मैंने सागर देखा। यह देखो सागर की तस्वीर कैमरे में रिकार्ड करके लाया हूं। वस्तुतः उसने सागर की सतह मात्र देखी है जहां लहरें उठती हैं, गिरती हैं। किनारे आती हैं, लहरें टकराती हैं, जोर की आवाज होती है फिर लौट जाती है। सागर तो बहुत गहरा है। प्रशांत महासागर पांच मील गहरा है। क्या इस व्यक्ति ने उस गहराई को जाना? इसने तो ऊपर–ऊपर की तरंगों को जाना है बस। वहां फेन हैं, बुदबुदे हैं, लहरे हैं, बड़ा शोर–गुल है, बड़ी आवाजे हैं। आंधी–तूफान भी वहां आते–जाते हैं। लहरें किनारों से टकराती हैं और बड़ा शोर–गुल पैदा करती हैं। लेकिन एक गहराई भी है, जहां कोई ध्वनि नहीं हो रही, जहां पूर्ण शांति और भी शांति है।

संत कबीर साहब ने कहा है–

'जिन खोजा तिन पाईयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बउरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ।'

मोती तो गहराईयों में है। सतह पर तो बस झाग और बुलबुले हैं। हो सकता है कि कभी बड़ा इंद्रधनुष जैसा भी छा जाए। पानी की छोटी–छोटी बूंदों में सूरज की किरणें सात रंगों में टूट जाएं। लेकिन वह इंद्रधनुष बस आभास मात्र ही है।

ठीक ऐसे ही हमारे चित्त को और चेतना को समझना। दूसरे शब्दों में उसी को हम मन और आत्मा भी कह सकते हैं। सत्य एक ही है, जैसे जल। उसकी एक गहराई है और एक ऊपरी सतह है। तो अक्सर जो लोग कहते हैं कि हम सागर देखकर आए, वे बस ऊपर–ऊपर की परत ही देखकर आए हैं, गहराई से अपरिचित ही रह गए।

तो ठीक इसी प्रकार सामान्यतः हमारा जीवन मन की सतह पर ही चल रहा है। हम

मन की गहराईयों में प्रवेश नहीं कर पाते। काश हम उसकी गहराईयों में प्रवेश कर जाएं तो हम बड़ी निर्मलता और पावनता के लोक में पहुंच जाएं। ऊपर तो बड़ी गंदगी है। कभी आप गए हों सागर किनारे, कम से कम भारत के अधिकांश सागर तटों पर बड़ी ही गंदगी नजर आएगी। इतना कचरा–कूड़ा नदी–नालों से आ रहा है, वह सागर में मिल रहा है। ऊपर–ऊपर की पर्त तो बिल्कुल ही गंदी है। हजारों प्लास्टिक की बोतलें और कांच की बोतलें तैर रहीं हैं। सारे कंटेनर्स जब ज्वारभाटा आता है तो समुद्र तट पर छोड़ दिए जाते हैं। करोड़ों–करोड़ों मछलियां मर जाती हैं तट पर। उनकी बदबू और फिर उनकी लाशें फिर पानी में चली जातीं हैं। बड़ा गंदा पानी है। गहराई में सब कुछ पावन और निर्मल है। ठीक ऐसे ही हमारा चित्त है, मन है। ऊपर–ऊपर बड़ा अशुद्ध। लेकिन उसकी गहराई में हम जाएं तो वहीं शुद्ध आत्मा में प्रवेश हो जाता है। इसलिए यह वचन बिल्कुल सार्थक है कि निर्मल चित्त ही आत्मा है।

दूसरा प्रश्न : ध्यान–साधना का मुख्य बिंदु और उसका उपयोग क्या है?

पहले वाले प्रश्न से ही समझ लें। इसका उत्तर भी उसी में समाहित हो जाता है। ध्यान साधना का लक्ष्य है कि जो ऊपर–ऊपर की लहरें उठ–गिर रही हैं, वे विचारों की तरंगे हैं, भावनाओं की तरंगे हैं, हमारी कल्पनाओं की, सपनों की, योजनाओं की, स्मृतियों की तरंगे हैं। अगर यह सब थोड़ी देर के लिए शांत हो जाएं तो हमारा गहराई में प्रवेश हो जाएगा। इन लहरों में उलझाव की वजह से हम गहराई में नहीं पहुंच पाते हैं। तो ध्यान साधना का मुख्य लक्ष्य क्या हुआ? चित्त की सफाई। वह जो कूड़ा–कचरा, कबाड़ खाना इकट्ठा हो गया है, उससे किसी प्रकार छुटकारा हो जाए, मुक्ति हो जाए। तो अचानक गहराई में हमारा प्रवेश हो जाता है। वरना ये लहरें हमें ऊपर ही ऊपर उठा के रखती हैं। इस संदर्भ में सद्गुरु ओशो की किताब 'पथ के प्रदीप' से एक सुंदर पत्र आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा और उसमें लिखी गई कहानी से इस प्रश्न का उत्तर भी बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा।

'प्रत्येक व्यक्ति एक दर्पण है। सुबह से सांझ तक इस दर्पण पर धूल जमती है और जो इस धूल को जमते ही जाने देते हैं वे दर्पण नहीं रह जाते और जैसा स्वयं का दर्पण होता है, वैसा ही ज्ञान होता है। जो जिस मात्रा में दर्पण है, उस मात्रा में ही उसमें सत्य प्रतिफलित होता है।

एक साधु से किसी व्यक्ति ने कहा कि विचारों का प्रवाह उसे बहुत परेशान कर रहा है। उस साधु ने उसे निदान और चिकित्सा के लिए अपने एक मित्र साधु के पास भेजा और उससे कहा कि जाओ और उसकी समग्र जीवनचर्या ध्यान से देखो। उसी से तुम्हें साधना का मार्ग

मिलना है। वह साधु एक सराय में रखवाला था। उसने वहां जाकर कुछ दिनों तक उसकी चर्या देखी। लेकिन उसे उसमें कोई खास बात सीखने जैसी दिखाई नहीं पड़ी। वह साधु अत्यंत सामान्य और साधारण व्यक्ति था। उसमें कोई ज्ञान के लक्षण भी दिखाई नहीं देते थे। हां, बहुत सरल था और शिशुओं जैसा निर्दोष मालूम होता था। लेकिन उसकी चर्या में तो कुछ भी विशिष्ट नहीं था।

उस व्यक्ति ने साधु की पूरी जीवनचर्या देखी थी केवल रात्रि में सोने के पहले और सुबह जागने के बाद वह क्या करता था वही भर उसे ज्ञात नहीं हुआ था। उस व्यक्ति ने उस साधु से पूछा कि तुम रात्रि सोने से पहले और सुबह जागने के बाद क्या करते हो? उस साधु ने कहा कि कुछ भी खास नहीं, रात्रि को मैं सारे बर्तन मांजता हूं, और चूंकि रात्रि भर में उनमें थोड़ी-बहुत धूल पुनः जम जाती है, इसलिए सुबह उन्हें पुनः फिर धोता हूं। बर्तन गंदे और धूल भरे न हों यह ध्यान रखना आवश्यक है। मैं इस सराय का रखवाला जो हूं।

वह व्यक्ति इस साधु के पास से अत्यंत निराश होकर अपने गुरु के पास लौटा। उसने साधु की दैनिक चर्या और उससे हुई बातचीत गुरु को बताई। उसके गुरु ने कहा कि जो जानने योग्य था, वह तुम सुन और देख आए हो, लेकिन समझ नहीं सके। रात्रि तुम भी अपने मन को मांजो ओर सुबह उसे पुनः धो डालो। धीरे-धीरे चित्त निर्मल हो जाएगा। सराय के रखवाले को इस सबका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। चित्त की नित्य सफाई अत्यंत आवश्यक है। उसके स्वच्छ होने पर ही समग्र जीवन की स्वच्छता या अस्वच्छता निर्भर है। जो उसे विस्मरण कर देते हैं वे अपने हाथ-पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं।'

जो बात मैंने सागर की उपमा देकर कही थी इस कथा के माध्यम से, वही बात दर्पण की उपमा से समझाई गई है, बर्तन की उपमा से समझाई गई है। ऊपर-ऊपर सुपरफिशयल लेयर पर धूल-धमास जम गई। उसकी सफाई जरूरी है, वरना वह आईना आईना ही नहीं रह जाता। वह रिफ्लैक्ट करना बंद कर देता है। उसका आईना होना तभी सार्थक है, जब धूल-धमास न हो, उसके ऊपर कोई भी पर्त न जमी हो। तो हमारे मन पर स्मृतियों की, कल्पनाओं की, सपनों की, विचारों की जो पर्त जम गई है, उसे साफ करना ही ध्यान साधना का मुख्य लक्ष्य है।

गुरु जी, बाहर से की गई जो एक्टीविटीज हैं, वे तो सबकी एक जैसी हैं। जैसे अभी इस कहानी में हमें पता चला कि अंदर से

हमारी भावदशा पर निर्भर करता है कि हमने किस भावदशा से काम किया। जैसे अभी चित्त की सफाई की बात हो रही है, तो चित्त की सफाई किस प्रकार की जा सकती है?

साक्षी भाव से। अगर हम द्रष्टा बनकर चीजों को देखें सजग होकर देखें तो उससे एक दूरी निर्मित हो जाती है। जो घटनाएं घट रही हैं, उससे जो प्रभाव और इम्पैक्ट्स हमारे मन पर पड़े हैं, उससे लहरें पैदा होती हैं। समझो किसी ने अपमानजनक शब्द कह दिए, मेरे भीतर क्रोध की तरंग पैदा हुई। यदि मैं सजग हूं, चैतन्य हूं तो मैं चुपचाप शांतिपूर्वक इस घटना को देखता हूं कि वह व्यक्ति नाराज है और अपशब्दों का इस्तेमाल कर रहा है, यह उसकी भावदशा है, यह उसकी समस्या है। तब मेरी शांति खंडित नहीं होगी और तब मेरे ऊपर क्रोध की तरंग और लहर नहीं आती।

तो सजगता का अभ्यास, साक्षी भाव का अभ्यास हमें अपनी गहराई से हटने नहीं देता। फिर हम वहां पर स्थिर रहते हैं। फिर कोई व्यक्ति आकर मेरी तारीफ करेगा, प्रशंसा करेगा। एक आदमी गाली दे गया था, दूसरा गीत गा गया। तब भी मैं प्रभावित न होऊंगा। मेरे भीतर वही शांति मौजूद रहेगी। अन्यथा अगर प्रसन्नता की लहर आ गई तो फिर चित्त निर्मल नहीं रहा क्योंकि तरंग आ गई, लहर आ गई।

न तो क्रोध की तरंग आए, न प्रसन्नता की तरंग आए। मैं हर हाल में शांत बना रहूं। तो बस मुझे गहराई मिलनी शुरू हो गई। वह जो तरंगे आ रही थीं, वही धूल-धमास है जो दर्पण पर जम जाती हैं। यदि वे न जम पाएं तब दर्पण स्वच्छ होता है।

तो हमारी चेतना एक आईने के समान है। वह केवल रिफ्लैक्ट करती है। उस व्यक्ति ने गाली दी या गीत गाया, आलोचना की या प्रशंसा की, दर्पण बताएगा कि ऐसा-ऐसा हुआ। लेकिन इसका कोई प्रतिक्रिया और रिएक्शन नहीं होगा। इसको साक्षी भाव या द्रष्टाभाव कहा जाता है। अगर हम इसको साध लें, तब धूल-धमास नहीं जम पाती। हमारा बर्तन साफ-सुथरा रहता है।

गुरु जी, ओशो के प्रवचनों में अधिकतर साक्षी चैतन्य की बात कही गई है, तो जो दूसरे आयाम हैं, क्या उनका कोई महत्त्व नहीं है?

निश्चित रूप से उनका भी महत्व है। सद्गुरु ओशो के प्रवचनों में सिर्फ साक्षी चैतन्य की बात नहीं है। एक और बात है बहुत महत्वपूर्ण, वह है प्रेम भाव का शुद्धिकरण। दुनिया में दो प्रकार के लोग हैं। जैसे मोटा-मोटा विभाजन हम कर सकते हैं - स्त्रैण चित्त के लोग और पुरुष चित्त के लोग। जो लोग पुरुष चित्त के हैं, उनका मार्ग ध्यान का मार्ग होगा। उनको

अपनी चेतना का दर्पण साफ–सुथरा करना होगा। साक्षी भाव साधना होगा, अधिक से अधिक चैतन्य बनना होगा। सुपर कांशियसनेस की स्टेट प्राप्त करनी होगी। जो स्त्रैण चित्त के लोग हैं, जरूरी नहीं कि सारी स्त्रियां स्त्रैण हों। कोई पुरुष भी स्त्रैण चित्त का हो सकता है। यह भी संभव है कि कोई स्त्री पुरुष चित्त की हो। तो मैं चित्त की बात कर रहा हूं, मानसिक प्रवृत्ति की बात कर रहा हूं। देह की रचना की नहीं। स्त्रैण चित्त के लोगों के लिए प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, प्रार्थना और समर्पण का मार्ग है।

सद्‌गुरु ओशो ने इस पर भी इक्वल इंफेसेस, बराबर का जोर दिया है। तो ऐसा मत कहिए कि उन्होंने केवल साक्षी चेतना की बात की है। उन्होंने प्रेम भावना की, भक्ति की, समर्पण की भी चर्चा की है। यह दोनों बातें महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य जाति में करीब–करीब आधे लोगों के लिए यह रास्ता होगा और आधे लोगों के लिए दूसरा रास्ता होगा।

ऐसा समझें कि मस्तिष्क केंद्रित लोगों के लिए ध्यान मार्ग बनेगा और भावप्रधान, हृदय केंद्रित लोगों के लिए भक्ति मार्ग बनेगी। तो दोनों ही बातें महत्वपूर्ण हैं। होश की साधना और प्रेम की साधना। लेकिन एक बात कॉमन होगी और वह शुद्धीकरण है। जैसा कि प्रेम हमारे हृदय में है लेकिन वह बड़ा मिश्रित है। प्रेम के साथ वे तत्व मिले–जुले हैं, जो कि प्रेम पूर्ण नहीं हैं। उदाहरण के लिए क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, मालकियत की भावना, अहंकार ये सब तो प्रेम नहीं है। लेकिन प्रेम के साथ मिश्रित है। हमारे भीतर अमृत भी है और जहर भी है। जैसे सागर मंथन की कहानी आती है शास्त्रों में। एक ऐसा ही मंथन हमारे भाव सागर का, अपने हृदय का करना होगा। अमृत को छांटना होगा और जहर को अलग करना होगा। वह भक्ति का मार्ग है। दूसरा योग का या ध्यान का मार्ग है, काम वहां भी वही करना होगा अपनी मस्तिष्क को, अपनी बुद्धि को, अपने विचारों को, अपने मन को साफ–सुथरा करना होगा। वहां जो कूड़ा–करकट जमा है, उसे हटाना होगा। उसके साक्षी होना होगा, अधिक चैतन्य होना होगा। दोनों का परिणाम एक ही है। चाहे हम चैतन्य की साधना करें, चाहे हम प्रेम की साधना करें, चाहे हम योग के मार्ग पर चलें अथवा भक्ति के मार्ग पर चलें; अंततः हम परमात्मा के मंदिर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

तो प्रभु के मंदिर को पाने के ये दो मुख्य मार्ग हैं। अब छोटे–छोटे विभाजन करेंगे तब तो बहुत खण्ड हो जाएंगे। लेकिन दो मुख्य मार्ग हैं योग और भक्ति। दूसरे शब्दों में संकल्प और समर्पण। अन्य शब्दों में होश की साधना और प्रेम की साधना। और अगर किसी व्यक्ति को लगता हो कि वह ठीक–ठीक समझ नहीं पा रहा कि वह कौन–सा रास्ता चुने तो उसके लिए दोनों का सममिश्रण। दुनिया में ऐसे भी बहुत लोग हैं, जिनको हम स्पष्ट रूप से एक कैटेगरी में नहीं रख सकते हैं। पचास प्रतिशत उनके भीतर बुद्धि है और पचास प्रतिशत भावना है। ये दोनों चीजें हैं 50–50 प्रतिशत। ऐसे लोगों के लिए मिश्रित मार्ग होगा।

सद्गुरु ओशो ने जो अधिकांश ध्यान विधियां बनाई हैं, उनमें से बहुतेरी विधियां दोनों के लिए हैं। शुरुआत होती है संकल्प से। उदाहरण के लिए सक्रिय ध्यान है। शुरुआत होगी संकल्प से, प्राणायाम से, कैथारसिस से, मन की सफाई, रेचन के द्वारा अपने मन को साफ-सुथरा कर दो। झाड़ू-बुहारी लगा दो। जो भी भरा है भीतर दमित उसको निकाल बाहर करो। फिर एक मंत्रोच्चार है 'हू' का और फिर उसके बाद ध्यानस्थ हो जाओ। निर्विचार जागरूकता में डूबो चैतन्य की साधना। और इसके बाद अंतिम चरण अहोभाव का है। संगीत के साथ नाचो, गाओ, गुनगुनाओ, मस्ती में झूमो। अब प्रभु को धन्यवाद दो।

तो शुरुआत हुई सफाई से, ऊर्जा जागरण से। फिर आए शुद्ध चैतन्य में डुबकी। जिसको निर्मल मन कहा है, उसमें डुबकी लगी और अंत किया भक्ति पर। यह एक बिल्कुल नई बात है जो सद्गुरु ओशो ने की। पुराने जमाने में योग का मार्ग बिल्कुल अलग था, भक्ति का मार्ग बिल्कुल अलग था। तो जो एकदम स्त्रैण चित्त या पुरुष चित्त हैं उनके लिए तो अनुकूल पड़ते थे। जो मिश्रित प्रवृत्ति के हैं, और बड़ी संख्या में लोग मिश्रित प्रवृत्ति के हैं। वे बड़े उलझन में पड़ जाते थे। सद्गुरु ओशो ने उनके लिए भी मार्ग निकाला। ओशो की इस देशना को हम तीन हिस्सों में बांट सकते हैं और अधिकांश ध्यान विधियां ऐसी हैं कि स्त्री और पुरुष सभी उसको कर सकते हैं। उनके लिए उसमें से रास्ता निकल आएगा।

अंतिम सवाल : गुरुदेव, क्यों हमारे मुल्क में भिखमंगेपन की प्रथा समाप्त नहीं होती?

इसके पीछे हमारे महापुरुषों का हाथ है। यहां करोड़ों पूज्य संन्यासियों ने भीख मांगी है। वेदों में भिक्षाटन को भी आजीविका उपार्जन का एक साधन गिनाया गया है। ईश्वर की मूर्ति के आगे गिड़गिड़ाने में हमें शर्म-संकोच का अनुभव नहीं होता।

एक भिखारी ने आवाज लगाई- बहन जी रोटी दे दो, मैं बहुत भूखा हूं।

अंदर से आवाज आई- आपकी बहन जी कल मायके गयी हैं। आपके जीजा भी सुबह से भूखे हैं। आदरणीय साले साहब, आपको कहीं से मिल जाएं तो मुझे भी दो रोटी दे जाना यार। बड़ा परेशान हूं!

केरला प्रांत में 100 प्रतिशत शिक्षा का सद्परिणाम देखिए- एक भिखारी भूख के मारे रो रहा था। पुलिस वाले ने पूछा- व्हाट इज दि मैटर? (क्या बात है?)

फिजिक्स में पोस्ट ग्रेजुएट भिखारी बोला- सर, मैटर इज एनीथिंग, विच ऑक्युपाइस स्पेश एंड हेज माश।

गर्मी में बस स्टॉप पर 25-30 लोग बस का इंतजार कर रहे थे। एक बुद्धिमान भिखारी आया और सब से 1-1 रुपया लेकर ऑटो मै बैठ कर चला गया।

वक्त आ गया, कि अब हम जागें। अपनी बुद्धि को दूसरी दिशा में लगाएं।

प्रवचन 11

ओशो की दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य

पहला प्रश्न : ओशो की दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कौन–सा है?

पहले तो यह समझ लें कि सामान्यतः हमारा जो महत्व की बात है, वह कहां से आती है? या तो अतीत से या भविष्य से। परंपरागत रूप से किस बात को महत्वपूर्ण माना गया है, किसको महत्ता दी है। हमारी पुरानी धारणाएं उनसे हम तय करते हैं कि कोई कार्य महत्वपूर्ण है या नहीं है। क्या है शुभ और अशुभ की धारणा, नीति और अनीति की धारणा, पाप और पुण्य की धारणा उससे हम तय करते हैं कि कोई कार्य महत्वपूर्ण है या नहीं है। अथवा फिर दूसरे लोग हैं, जिनको हम कहते हैं– प्रगतिशील, भविष्यवादी। वे अतीत की तरफ नहीं देखते हैं, वे भविष्य के सपने पालकर मन में रखते हैं कि ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए और उनके मन में महत्वपूर्ण होने की जो भी धारणा है वह भविष्य के सपने से, उनकी एक मनोकल्पित योजना से आती है। वे अपने उस योजना के खातिर यहां तक कि अपनी जान देने भी तैयार हो जाते हैं।

तो दो दुनिया में दो प्रकार के लोग हैं– या तो पास्ट ओरिएंटेड या फ्यूचर ओरिएंटेड और उनके जीवन के जो कार्य हैं उनका महत्व या तो अतीत से या भविष्य के सपने से प्रभावित होता है, संचालित होता है। अब इस कंट्रास्ट में सद्गुरु ओशो की दृष्टि को समझिए। वे कहते हैं कि वर्तमान का यह क्षण महत्वपूर्ण है और इसलिए जो कार्य इस क्षण में किया जा रहा है, वह तुम कैसे कर रहो हो– होशपूर्वक या बेहोशी में? प्रेमपूर्वक या नफरत के साथ? क्रोध में, नकारात्मक भावनाओं में उस पर निर्भर करेगा उसका महत्व। सारी बात ही बदल गई, न अतीत की चिंता करो न भविष्य की चिंता करो। न तुम्हें परंपरावादी होने की जरूरत और न ही विद्रोही और क्रांतिकारी होने की जरूरत परंपरा के खिलाफत में। वर्तमान के इस क्षण में आ जाओ। अभी जो हो रहा है, वही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यदि ऐसी ही तुम्हारी धारणा हो जाए, यह तुम्हारी साधना हो जाए तब वर्तमान का वह कार्य अत्यंत चैतन्यपूर्ण होगा, ध्यानपूर्ण होगा। अत्यंत सजगता से होगा। तुम अपने हृदय का सारा प्रेम

उसमें उलीच दोगे। तब तुम जो भी करोगे उसमें तल्लीन होओगे और तब वह कार्य बड़ा सृजनात्मक हो जाएगा। तो अतीत उन्मुख लोग, भविष्य उन्मुख लोग वे दोनों ही इस मुख्य बिंदु से चूक जाते हैं। तो सद्‌गुरु ओशो की दृष्टि में वर्तमान के क्षण का जो कार्य किया जा रहा है उसे किस ढंग से सम्पन्न किया जाए। उसी से उसकी महत्ता स्थापित होती है। अगर हम प्रेमपूर्वक तल्लीन होकर, होशपूर्वक, साक्षी भाव में कर सकें तो वही जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है।

दूसरा प्रश्न : प्राचीन धर्म ग्रंथों में शाश्वत, सनातन, सत्य की चर्चा आती है। लेकिन सद्‌गुरु ओशो नित–नूतन वर्तमान क्षण की बात करते हैं। ऐसा क्यों?

जो बात मैंने पहले कही है, इसके लिए भी वही चीज लागू होती है। यदि हमारी नित–नूतन में डुबकी लग जाए तो जो अभी हमारे हाथ में है... याद रखना, अतीत तो जा चुका है, अब वह कहीं है नहीं, वह हमारे हाथ में हो नहीं सकता। भविष्य अभी आया नहीं, वह भी हमारे हाथ में नहीं है। हमारे हाथ में क्या है? केवल यह पल और इसलिए इस पल में अगर हम डुबकी लगा गए, इसमें हम होशपूर्वक और प्रेमपूर्वक अपना कर्म कर रहे हैं, तब हम पाएंगे कि हम उस सनातन और शाश्वत में प्रवेश कर गए। यहां दो–तीन शब्दों को समझना आपके लिए उपयोगी होगा। एक शब्द है 'प्राचीन' और एक शब्द है 'नवीन' जैसे मैंने कहा कि पास्ट ओरिएंटेड लोग हमेशा प्राचीन की बात करते हैं। पुरानी परंपराओं ने क्या कहा, उसकी बात करते हैं? और कुछ लोग हैं नवीनवादी, वे तभी प्रभावित होते हैं, जब उनसे कुछ कहो लेटेस्ट. अभी–अभी ताजा खबर, उससे वे प्रभावित होते हैं, आंदोलित होते हैं। जैसे हमारा देश है, प्राचीन देश है। यहां पर कोई भी बात कहनी हो तो यह कहना जरूरी है कि पुराने धर्म ग्रंथों में यह लिखा है। गीता में भगवान कृष्ण ने ऐसा कहा है, उपनिषद के ऋषियों ने ऐसा कहा है, तब आप अपनी बात स्थापित करवाओगे। लोग सीधे–सीधे आपकी बात सुनेंगे ही नहीं। अगर वह वेदों में नहीं लिखी, कुरानों में नहीं लिखी, पुराणों में नहीं लिखी तो कोई उसको सुनने वाला नहीं।

अमेरिका जैसे देश में जो कि नया मुल्क है, वहां पर कोई भी बात कहनी हो तो कहना होगा लेटेस्ट। अभी बिल्कुल ताजा। नई खबर आपको सुना रहे हैं, नए समाचार। तभी लोग उसमें उत्सुक होंगे, रुचि लेंगे। ये दो प्रकार के लोग हैं, लेकिन दोनों ही गलत हैं। सद्‌गुरु ओशो कह रहे हैं वर्तमान। न तो अतीत महत्वपूर्ण है, न भविष्य की बात महत्वपूर्ण है। इस क्षण में जो हो रहा है उसको संपूर्णता से ध्यानपूर्वक, प्रेमपूर्वक जीना यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए उनकी दृष्टि में यह क्षण शाश्वत और सनातन में प्रवेश का द्वार है। याद रखना, शाश्वत और सनातन प्राचीन और नवीन से अलग बात है। प्राचीन, नवीन। यह भूत और भविष्य की बात कर रहे हैं। सनातन कुछ और ही है। वह पहले भी था, आज

भी है और सदा रहेगा। उसमें अतीत और भविष्य शामिल हैं और है वह वर्तमान में भी मौजूद। तो तीन शब्द हो गए प्राचीन, सनातन और नवीन। अगर सनातन में डुबकी लगानी है, तो उसका क्षण वर्तमान क्षण ही होगा। इसलिए सद्गुरु की देशना में अभी और यहीं (हियर एंड नाउ) बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सद्गुरु ओशो एक बड़ी मजेदार कहानी सुनाते हैं कि एक आदमी बड़ा नास्तिक था। इतना घनघोर नास्तिक कि उसने अपने आफिस में एक प्लेट लगा रखी थी, एक बोर्ड बना रखा था– गॉड इज नो व्हेयर. परमात्मा कहीं नहीं है। उसका छोटा बेटा अभी कुछ ही समय से स्कूल जाना शुरू किया था। एक दिन वह उसके आफिस में आया। इतना बड़ा बोर्ड, इतना बड़ा शब्द 'नो व्हेयर' वह पढ़ नहीं सकता था। उसने जोर–जोर से स्पेलिंग पढ़ी – जी–ओ–डी : गॉड। आई–एसः इज। गॉड इज। एन–ओ : नो। फिर उसने नो व्हेयर को दो टुकड़ों में तोड़ दिया। उसने कहा– एन–ओ–डब्ल्यू : नाव। और एच–इ–आर–इः हियर। गॉड इज नाव हियर। वह नास्तिक तो चौंका। उसका छोटा बेटा यह क्या कह रहा है? पूरी बात ही पलट गई। शब्द वही का वही है। 'नो व्हेयर' नाव हियर बन गया। एक अंतर्दृष्टि उस नास्तिक की खुली। अभी और यहीं जो है।

तो सनातन में अगर डूबना है तो 'हियर एन नाव' से शुरुआत हो सकती है। जो सर्वव्यापी है– वह। सबके भीतर वह मौजूद है। अगर अपने भीतर डुबकी लगा लें तो सर्वव्यापी में प्रवेश हो जाएगा। तो सुनने में बात अटपटी लगेगी कि अपने भीतर ध्यानस्त होने से सर्वव्यापी प्रभु कैसे मिलेगा? लेकिन और क्या उपाय हो सकता है? वह सर्वव्यापी मेरे भीतर भी तो व्याप्त है। अगर वह सनातन है, शाश्वत है अर्थात् पहले भी था, आज भी है और सदा–सदा होगा। तो उसको कहां से हम पकड़ेंगे? अतीत तो जा चुका हमारे हाथ में है नहीं। उसको हम पकड़ ही नहीं सकते। उ भविष्य अभी आया ही नहीं। हमारे हाथ में कुछ भी नहीं। हमारे हाथ में क्या है? वर्तमान का यह क्षण ही है। 'पथ के प्रदीप' में सद्गुरु ओशो द्वारा लिखा गया एक पत्र आपको पढ़ कर सुनाता हूं। उसमें पहले प्रश्न का उत्तर और दूसरे प्रश्न का उत्तर दोनों ही मिल जाएंगे।

'शावश्त, क्षण में छिपा है और अणु में विराट। अणु को जो अणु मानकर छोड़ दे, वह विराट को ही खो देता है। क्षुद्र में ही खोजने से परम की उपलब्धि होती है। जीवन का प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण है और किसी भी क्षण का मूल्य किसी दूसरे क्षण से न ज्यादा है और न कम है। आनंद को पाने के लिए किसी अवसर की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है। जो जानते हैं, वे प्रत्येक क्षण को ही आनंद बना लेते हैं और जो अवसरों की प्रतीक्षा करते रहते हैं वे जीवन के अवसर को ही खो देते हैं। जीवन की कृतार्थता इकट्ठी नहीं मिलती है। उसे तो बिंदु–बिंदु और क्षण–क्षण में ही पाना होता है। एक साधु के निर्वाण पर उसके शिष्यों से पूछा गया

था कि दिवंगत सद्‌गुरु अपने जीवन की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण बात कौन-सी मानते थे? शिष्यों ने उत्तर में कहा था- वही, जिसमें किसी भी क्षण वे संलग्न होते थे। बूंद-बूंद से सागर बनता है और क्षण-क्षण से जीवन। बूंद को जो पहचान ले, वह सागर को जान लेता है और क्षण को जो पा ले वह परम जीवन को पा लेता है।'

अब तो आधुनिक विज्ञान की उपमा से भी इस बात को हम समझ सकते हैं। एक पानी की छोटी-सी-छोटी बूंद में एच.टू.ओ. है वही विराट सागर का स्वरूप भी है। सागर को जानने के लिए पूरा सागर को जानने की जरूरत नहीं है। पानी की एक अणु को पहचान लो और सागर की संरचना समझ में आ जाएगी।

ठीक इसी प्रकार वर्तमान के क्षण को जी लो संपूर्णता से और तुम परम जीवन को जी लोगे। सुनने में अटपटी लगती है बात। आधुनिक फिजिक्स की खोज से यह बात और भी साबित हो गई है कि एक छोटे से परमाणु में कितनी विराट शक्ति छिपी है। हीरोशिमा और नागासाकी पर एक परमाणु के विस्फोट से एक-एक लाख लोग एक सेकेंड में राख हो गए। इतना शक्तिशाली हथियार तो कभी नहीं बना था और वह छोटा-सा परमाणु जो दिखाई भी नहीं देता, लाखों गुना बड़ा करने के बाद भी हम उसे नहीं देख सकते। ठीक यही बात बायोलॉजी के ज्ञान से भी देखो। सर्वाधिक शक्तिशाली जीव जो है वह बैक्टीरिया और वायरस है। आज तक वायरस को मारने की कोई दवाई नहीं बनाई जा सकी। बैक्टीरिया को तो मारने के उपाय किए गए वह थोड़ा बड़ा है। वायरस सबसे छोटा है, सबसे सूक्ष्म जीव हैं, सबसे ज्यादा शक्तिशाली। छोटे में विराट छिपा हुआ है। पुरानी कहावत है 'कण-कण में भगवान।' जो अण्ड में है, सो ब्रह्माण्ड में है। जो ब्रह्माण्ड में है, सो अण्ड में है। इसी को एक अन्य उपमा से समझें।

एक छोटा बीज है, देखने में तो मामूली सा कंकड़-पत्थर जैसा लगता है। इसमें क्या शक्ति छिपी होगी। इस बीज को बो दो, अंकुर आने दो, वृक्ष लगने दो। उसमें हजारों-हजारों बीज लग जाएंगे। वह हजारों बीज फिर हजारों वृक्ष पैदा कर सकते हैं। लाखों, करोड़ों बीज हो जाएंगे। सच पूछो तो एक बीज सारी पृथ्वी को हरा-भरा कर सकता है और एक पृथ्वी ही क्यों? ऐसी अनंत-अनंत पृथ्वियां होंगी जगत में उन सब को हरी-भरी कर सकता है। क्या एक बीज को देखकर कभी ख्याल आता है कि इसके भीतर इतनी हरियाली की संभावना छिपी है? सारी धरती को जंगल बना सकता है। ठीक यही बात, वर्तमान के क्षण में सनातन छिपा है। यही सद्‌गुरु की देशना है।

तीसरा प्रश्न : एक प्रोफेसर साहब पूछते हैं कि क्या प्रमाण है कि कण-कण में परमात्मा है?

प्रमाण अपने भीतर खोजो। प्रणाम कहीं बाहर नहीं है। कभी-कभी मैं विज्ञान की

उपमा देता हूं सिर्फ समझने के लिए, इशारा करने के लिए। जब मैं बूंद की बात कर रहा हूं या अणु-परमाणु की बात कर रहा हूं तो बाहर से मेरा संबंध नहीं है। वह तो एक उपमा है, इशारा है। जब कण-कण में भगवान कहा है तो तुम कणों में खोजने मत चले जाना। माइक्रोस्कोप लगाकर कण में खोज रहे हैं कहां है भगवान? नहीं, अपने भीतर। हम सात अरब मनुष्य, मनुष्य जाति के कण हैं। अगर मनुष्य जाति एक सागर है तो आप भी एक बूंद हैं, मैं भी एक बूंद हूं। इस बूंद में टटोलें, इसमें खोजें और यह खोज वैज्ञानिक खोज से अलग प्रकार की होगी। विज्ञान जब खोज करता है तो वहां ज्ञाता और ज्ञेय का द्वंद होता है। नोवर एंड नोन. द्रष्टा और दृश्य। जब भीतर हम खोज करेंगे अपनी अंतर्आत्मा में वहां द्वंद नहीं है। क्योंकि वहां दो नहीं हैं। आप अकेले ही हैं अपने भीतर कोई दूसरा तो है नहीं।

तो जिसे आप जानेंगे वह भी आप ही हैं और जानने वाला भी आप ही हैं। आब्जर्वर एंड आब्जर्व, नोवर एंड नोन, ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य एक ही है। तो यह अलग प्रकार की खोज होगी। तो वास्तव में ऐसा नहीं है कि आपको भगवान के दर्शन हो जाएंगे अपने भीतर। वह जो द्रष्टा स्वरूप चैतन्य है वही परमात्मा है, वही भगवत्ता है, ऐसा अनुभव में आएगा। तो इस बात को ख्याल रखिएगा। ऐसा नहीं कि अपने भीतर आप गए तो वहां भगवान से मुलाकात हो गई, आपने हाथ मिलाया और कहा कि वाह! बड़े दिनों से ढूंढ रहे थे आपको। अच्छा हुआ मुलाकात हो गई, बैठिए आपका इंटरव्यू ले लें। ऐसी कोई मुलाकात नहीं होगी, कोई साक्षात्कार नहीं होगा। हां, आप अपने स्वरूप को जानेंगे कि वह भगवत्ता से, दिव्यता से ओत-प्रोत है। आप स्वयं ही भगवान हैं। यह अर्थ है कहने का कि कण-कण में भगवान है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कण अलग है और भगवान अलग है और कण में भगवान छुपा हुआ है। नहीं, कण ही भगवान है और भगवान ही कण-कण में है। अर्थात् यह दोनों अलग-अलग नहीं है, एक ही सत्य है।

हम कहें कि एच.टु.ओ. पानी है और पानी में एच.टु.ओ. है तो बात गलत हो गई। ऐसा भ्रम पैदा होने लगा कि पानी कोई अलग चीज है और एच.टु.ओ. कोई अलग चीज है। नहीं, एच.टु.ओ. ही पानी है। पानी ही एच.टु.ओ. है। दो अलग-अलग बातें नहीं हैं, नाम अलग-अलग हैं। एक हमारी सामान्य भाषा का शब्द है, एक वैज्ञानिक शब्दावली से आया हुआ है। एक उसका केमिकल फार्मूला है। एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं। तो अक्सर यह भूल हो जाती है।

जब कहते हैं कि कण-कण में भगवान, तो ऐसा लगता है कि कण की एक अलग सत्ता है और उसके भीतर छुपा हुआ परमात्मा है। ऐसा भी नहीं। भगवान महावीर ने कहा है कि आत्मा ही परमात्मा है। तो इसको हम दूसरे शब्दों में कह लें। कण ही भगवान है, अणु ही विराट है इस ढंग से लें।

प्रोफेसर साहब को समझने के लिए नहीं, अनुभव करने के लिए निमंत्रण देता हूं। **धन्यवाद। जय ओशो।**

प्रवचन 12

परमात्मा को पाने में सबसे बड़ी बाधा

पहला प्रश्न : मन में संपत्ति पाने की इतनी आकांक्षा क्यों है?

हमारे अहंकार के कई रू प हैं, मुख्य चार रूपों की तरफ ध्यान दिलाना चाहूंगा और वे हमारी हीनता के अनुभव से उत्पन्न होते हैं। छोटा बच्चा जब पैदा होता है, उसे महसूस होता है कि मैं बिल्कुल आसक्त हूं, मैं कमजोर हूं, मैं चल-फिर भी नहीं सकता, कुछ कर भी नहीं सकता। उठना-बैठना भी संभव नहीं, कोई सामान नहीं उठा सकता। अपने हाथ से खा नहीं सकता, पी नहीं सकता। हर बात पर मैं दूसरों पर निर्भर हूं, हर बात के लिए। इस कमजोरी का एहसास उसे होता है और इसी के समानांतर शक्ति पाने की आकांक्षा सबल होने की आकांक्षा उत्पन्न होती है। दूसरी बात छोटे बच्चे को महसूस होती है कि मेरे पास कुछ भी नहीं है। अन्य सब लोग हैं, उनके पास बड़ी मालकियत है। किसी के पास कुछ है, किसी के पास कुछ है। मैं बिल्कुल असहाय, हेल्पलेस, दीन-दरिद्र, दीन-हीन हूं और इसी के समानांतर उसके भीतर संपत्ति पाने की इच्छा पैदा होती है।

तो पहला वीक प्वाइंट है- शक्ति की आकांक्षा और दूसरा वीक प्वाइंट को जानकर संपत्ति पाने की आकांक्षा होती है कि मैं बहुत कुछ कमा लूं, बहुत कुछ अर्जित कर लूं, बहुत जोड़ लूं, बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लूं। तीसरी बात बच्चे को एहसास होता है कि मेरे पास कोई ज्ञान नहीं। मुझे कोई नॉलेज नहीं है। बड़े लोग कितना कुछ जानते हैं, इनके पास कितनी जानकारी है, ये कितने ज्ञानी हैं, इनको सब कुछ मालूम है और मुझे कुछ भी नहीं मालूम। उसे अपनी बुद्धिहीनता का, अपनी मूर्खता का एहसास होता है। अपने अज्ञान का बोध उसको कांटें की तरह चुभता रहता है और तब ज्ञान पाने की आकांक्षा पैदा होती है। फिर वह शब्द सीखता है, भाषा सीखता है, पढ़ाई-लिखाई करता है, ऊंची डिग्रियां हासिल करता है। ज्ञान की एक दौड़ शुरू हो जाती है। चौथी बात बच्चे को एहसास होता है कि वह उसका चौथा वीक प्वाइंट है कि मैं प्रेम पाने योग्य नहीं हूं। मैं किसी को कुछ दे तो सकता नहीं, मेरी कोई क्षमता नहीं। मैं बस दूसरों पर निर्भर हूं, दूसरे लोग मुझे प्रेम करते हैं, मैं

दयनीय हालत में हूं और तब उसके भीतर इस प्रकार की भावना उत्पन्न होती है कि काश मैं दूसरों को प्रेम कर सकूं, मैं दूसरों के लिए कुछ कर सकूं।

तो ये चार महत्वपूर्ण इच्छाएं उसके भीतर जन्मती हैं। शक्ति पाने की चाहत, संपत्ति पाने की चाहत, प्रेम पाने और करने की चाहत और ज्ञान वर्धन की चाहत। ये चार खास इच्छाएं पैदा हो जाती हैं और इन्हीं से फिर अहंकार घना होता चला जाता है। जैसे–जैसे संपत्ति आती–जाती, पद मिलता जाता, नाम और यश होता जाता, लोग उसे प्रेम करने लगते, लोग उसे जानने लगते हैं, वह बहुत कुछ जानने लगता है, बड़ा एक्सपर्ट हो जाता। वैसे ही उसका अहंकार सघन होता चला जाता है। फिर यह अहंकार और डिमांड करता है और ज्यादा, और ज्यादा। यह अहंकार ऐसे है जैसे कोई पात्र जिसमें पेंदी ही नहीं है। इसमें कुछ भी डालो, सब गायब हो जाता है। कोई व्यक्ति कितना ही धन कमा ले इससे तृप्ति नहीं मिलती बल्कि और ज्यादा धन की चाहत पैदा हो जाती है। जब उसके पास हजार रुपए थे तब वह सोचता था कि लाख हो जाएं तो बिल्कुल बिल्कुल संतुष्ट हो जाऊंगा लेकिन जब वह लाख हो गए तब वह करोड़ों की कल्पना करने लगा। अब वह सोचता है कि करोड़ से कम में काम नहीं चलेगा। उसकी मांग, उसकी उम्मीद और बढ़ गई। जब करोड़ हो जाएंगे तब वह अरबों की सोचने लगेगा। जिंदगी छोटी है, उसकी अपेक्षा कभी पूरी नहीं हो पाएगी। उसको हमेशा लगता ही रहेगा कि मैं दरिद्र हूं, दीन–हीन हूं।

ठीक इसी प्रकार कोई व्यक्ति शक्तिशाली हो जाए, सिकंदर और हिटलर ही क्यों न हो जाए, विश्व विजेता ही क्यों न बन जाए तब भी उसके भीतर की दीनता, हीनता खत्म नहीं होती। वह जो आसक्त होने का भाव है, कमजोर होने की फिलिंग है, वह यथावत बरकरार रहती है। और उसे कितने ही लोग प्रेम करें, कितना ही उसका नाम हो जाए, यश हो जाए, प्रतिष्ठा फैल जाए उसकी भीतर की चाहत बनी ही रहती है कि और मिले, और मिले और ज्यादा का लोभ खत्म नहीं होता है।

ठीक इसी प्रकार कितना ही वह ज्ञान अर्जित कर ले जानने को हमेशा अनंत–अनंत शेष है। सच पूछो तो ज्ञान प्राप्त कर–कर ही पता चलता है कि मैं कितना बड़ा अज्ञानी हूं। कितना जानने को शेष है और जो मैं जानता हूं, वह तो बहुत थोड़ा। तो किसी भी प्रकार से वह अहंकार तृप्त नहीं होता। बात हमेशा अधूरी कि अधूरी बनी रहती है। तो संपत्ति पाने की आकांक्षा भी उन्हीं आकांक्षाओं में से एक है। ये हमारे अहंकार के चार मुख्य एक्सटेंशन हैं। जैसे बाहर की दुनिया में चार दिशाएं हैं –पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण। ठीक ऐसे ही धन, पद, प्रेम और ज्ञान ये हमारे चार महत्वपूर्ण इच्छाएं हैं। ये अहंकार की चार शाखाएं हैं।

गुरु जी, बाहर के जगत में कामयाब होने के लिए इन चारों

शिखाओं को मजबूत करना पड़ता है और अंतर्यात्रा के लिए होश साधने से इससे बाहर निकलना है।

बाहर सफलता किसी को नहीं मिलती है। ऐसा अन्य लोगों को लगता है। जो आदमी लखपति है उसको लगता है कि करोड़पति सफल हो गया। जो अभी विधायक बना है, उसको लगता है प्रधानमंत्री सफल हो गया। ऐसा उसको लग रहा है। जो अरबपति है, उससे पूछो कि उसको ऐसा नहीं लग रहा है कि अब मैं सफल हो गया। अब वह खरबपति बनने की सोच रहा है। अब वह विश्व के धनपतियों में गिना जाए इसकी सोच रहा है। खत्म नहीं हुआ मामला। सफल उसको नहीं लग रहा है, दूसरे लोगों को लग रहा है कि कितना सफल है। एक आदमी जो झोपड़ी में रह रहा है, उसको लग रहा है कि पक्के मकान में वह दूसरा कितना सफल है। उस पक्के मकान वाले से पूछो। उसने एक और बड़ी हवेली देखी है, मल्टी स्टोरी बिल्डिंग। वह सोचता है कि इतनी बड़ी बिल्डिंग का मालिक बनूं तब जाकर सफलता मिलेगी अभी कहां? उस मल्टी स्टोरी बिल्डिंग के मालिक से पूछो, उसने और अपेक्षाओं को बड़ा कर लिया है। वह सोच रहा है ऐसी पूरी कॉलोनी बसा लूं फिर तृप्त होऊंगा। कोई भी तृप्त नहीं हुआ, किसी को सफलता का एहसास नहीं हो रहा है। सफलता केवल एक सोशल इल्यूज़न है। दूसरों को भ्रम पैदा होता है कि तुम सफल हो गए। तुमको भली-भांति पता है कि कुछ भी हासिल नहीं हुआ। बचपन की जो वे चार फीलिंग्स थीं, वे चारों ज्यों कि त्यों बरकरार हैं। भीतर हीनता की ग्रंथि मौजूद है। तुम्हें लग ही रहा है कि तुम आसक्त हो, कमजोर हो।

सिकंदर की कहानी तो आपने सुनी होगी कि जब उसकी मृत्यु हुई तो उसने कहा कि अर्थी के बाहर मेरे हाथ लटके रहने देना ताकि दुनिया देख ले कि विश्व विजेता सिकंदर भी भिखमंगे की तरह खाली हाथ जा रहा है। अन्य सम्राट सोचते होंगे कि सिकंदर जीत गया हम हार गए। यह तो सफल हो गया। सिकंदर से पूछो। वह कह रहा है मैं तो भिखमंगे की तरह खाली हाथ जा रहा हूं। कहां की सफलता? आज तक बाहर जगत में कोई सफल नहीं हुआ है, सफलता तो बस एक ही है भीतर।

दूसरा प्रश्न : मैंने संसार में बहुत कुछ पाया है, अब परमात्मा को पाने का हठ मन में जाग रहा है। कृपया सफलता का सूत्र बताएं?

सफलता का सूत्र अभी-अभी बात हो ही गई। बस एक बात इस प्रश्न में जो इन्होंने पूछी है कि हठ जाग रहा है। यह लगता है कि एक ज़िद्दी प्रकार के इंसान हैं। बाहर की दुनिया में यह पा लिया, वह पा लिया, यह कर लिया, वह कर लिया इससे इनका कर्ताभाव घना

हो गया। अहंकार मजबूत हो गया। अब यह चाह रहे हैं कि जैसे परमात्मा पर भी आक्रमण कर दें कि सागर की गहराईयों में उतर गए, एवरेस्ट के पहाड़ को चढ़ आए, वहां विजय हासिल कर ली, चंद्रमा पर जाकर झंडा फहरा दिया। अब जाकर ईश्वर को भी जीतना है। इस प्रकार की भावना से चले तो कभी न पहुंच सकोगे। यह अहंकार की चालें बाहर की दुनिया में काम आती हैं। चालाकियां, बेईमानियां, धूर्तताएं, होशियारियां ये बाहर की दुनिया में काम आएंगी अगर आपने भीतर इन विधियों का उपयोग किया तो तुम्हें कुछ भी हासिल नहीं हो सकेगा।

परमात्मा अर्थात् आत्मा का परम रूप। तुम्हारी अंतर्आत्मा का शुद्धतम खिलावट वाला रूप। वहां आक्रमण कौन किस पर करेगा? वहां कोई दूसरा है ही नहीं। अगर तुमने वहां हठ की, जिद्द की जो कि अहंकार का ही रूप है, तब तुम बुरी तरह असफल हो जाओगे। वहां अगर तुमने पाने की कोशिश की जोर जबरदस्ती के साथ, हिंसात्मक तरीके से तो वहां पर कुछ भी हासिल न हो सकेगा। यह हिंसा कौन करेगा और किस पर करेगा? तुम खुद ही अपने आप से लड़ रहे हो।

मेरे बाएं और दाएं हाथ में लड़ाई हो जाए और दोनों एक दूसरे से गुत्थम–गुत्था करने लगे, एक–दूसरे पर हमला करने लगे तो कौन जीतेगा? न तो बायां जीत सकता है, न दायां जीत सकता है। इस प्रक्रिया में मैं हार जाऊंगा, मैं परास्त हो जाऊंगा।

ठीक ऐसे ही तुम जिस प्रकार का सवाल पूछे हो कि परमात्मा को पाने का हठ। यह बात ही गलत है। नहीं, हठ नहीं। वहां तुम्हें कुछ करना नहीं है, वहां तो तुम्हें शांत होना है। कुछ भी न करो। बाहर के जगत में कर–कर के पाया जाता है और भीतर के उस लोक में बिना कुछ किए वह उपलब्ध हो जाता है जो कि पहले से ही मौजूद है। यह फर्क क्यों है समझना। बाहर की दुनिया में हम जो पाने चले हैं, चाहे वह धन हो, चाहे पद हो, चाहे यश हो, चाहे ज्ञान हो, चाहे प्रेम हो। वह हमें पहले से प्राप्त नहीं है। हम भारी मेहनत करेंगे, श्रम करेंगे तब संभावना बनती है कि शायद मिल जाए। जरूरी नहीं है कि तब भी मिल जाए। कितने बच्चे स्कूल, कॉलेज में पढ़ते हैं। सभी पोस्ट ग्रेजुएट तो नहीं हो जाते, सभी को पी.एच.डी. नहीं मिल जाती। पच्चीस–तीस साल मेहनत करेंगे तब जाकर वह डॉक्ट्रेट हासिल होगी। वह भी सब को नहीं हो जाएगी। उन्होंने भी बहुत मेहनत की थी। लेकिन वह नहीं पा सके। हजारों लोग राजनीति में लगे हुए हैं, लेकिन एक ही प्रधानमंत्री हो सकता है, सब लोग तो नहीं हो सकते। बाहर के दुनिया में कोशिश, प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा, हिंसा, चालाकी, बेईमानी ये चीजें काम आएंगी। भीतर परमात्मा उपलब्ध ही है। बाहर के जगत में हम जो पाने चले थे, पहले से उपलब्ध नहीं था। अगर आप धन कमाने का प्रयास नहीं करेंगे तो पैसा अपने आप आपके पास नहीं आएगा। आपको ही जाना पड़ेगा धन कमाने के लिए। धन

अपने आप आपके पास नहीं आएगा। बहुत कुछ करना होगा तब बा–मुश्किल आप धनी हो पाएंगे। भीतर मामला उल्टा है। वहां संपदा पहले से ही मौजूद है। कुछ करने का सवाल नहीं है, सिर्फ जाग्रत होकर देखने का, जानने का सवाल है बस। इसलिए हठ वाली बात वहां पर लागू नहीं होती। सामान्य दुनिया में ठीक है। भीतर भूलकर भी वह भूल न करना। नहीं तो बुरी तरह से चुक जाओगे।

तीसरा प्रश्न : परमात्मा को पाने में सबसे बड़ी बाधा कौन–सी है और उसे कैसे पार किया जाए?

प्रभु को पाने में सबसे बड़ी बाधा हमारा झूठा अहंभाव। जो हमारा इगो स्टीक एटिट्यूड है, वही है। अभी–अभी हम जो चर्चा कर रहे थे कि अहंकार की वे चार शाखाएं और इनमें हमारा उलझाव और हमारी ऊर्जा बर्हिमुखी हो गई, हम बाहर ही बाहर दौड़ रहे हैं। यह पाने के लिए, वह पाने के लिए, कभी पूरब, कभी पश्चिम, कभी उत्तर, कभी दक्षिण। वह जो बर्हिर्गामी ऊर्जा है, बाहर व्यस्त हो गई, वह फिर अंतर्यात्रा नहीं कर पाती। स्वयं पर नहीं लौट पाती है और भगवान, परमात्मा, ब्रह्म जो भी कहो वह हमारी अंतर्आत्मा की ही पूर्ण खिलावट का नाम है। जो हमारा अहंकार है, उसी का जाल है, वही इकलौती बाधा है। ब्रह्म भाव को जानने में अहंभाव ही दीवार है और कुछ नहीं। बाहर की कोई बाधा नहीं है। बाधा हमारी स्वनिर्मित, हमारी स्वकल्पित बाधा है और कोई बाधा नहीं है। 'पथ के प्रदीप' में सद्गुरु ओशो ने एक प्यारा पत्र लिखा है, उसे मैं आपको वह पढ़कर सुनाता हूं और उसमें आपके सवाल का जवाब भी मिल जाएगा।

'मैं' से बड़ी और कोई भूल नहीं है। प्रभु के मार्ग में वही सबसे बड़ी बाधा है। जो उस अवरोध को पार नहीं करते हैं, सत्य के मार्ग पर उनकी कोई गति नहीं हो पाती है। एक साधु किसी गांव से गुजरता था। उसका एक मित्र भी उस गांव में था। उसने सोचा कि उससे मिलता चलूं। रात आधी हो रही थी फिर भी वह मिलने गया। एक बंद खिड़की से प्रकाश को आते देखकर उसने उसे खटखटाया। भीतर से आवाज आई कि कौन है? उसने यह सोचा कि वह तो अपनी आवाज से ही पहचान लिया जाएगा, कहा 'मैं हूं।' फिर भीतर से कोई उत्तर न आया। उसने बार–बार खिड़की पर दस्तक दी और कोई भी उत्तर नहीं आया। ऐसा ही लगने लगा कि जैसा वह घर बिल्कुल निर्जन है। उसने जोर से कहा, मेरे मित्र! तुम मेरे लिए द्वार क्यों नहीं खोल रहे हो और चुप क्यों हो गए? भीतर से आवाज कि कौन नासमझ है जो स्वयं को

'मैं' कहता है। क्योंकि 'मैं' कहने का अधिकार सिवाय परमात्मा के और किसी को नहीं है। प्रभु के द्वार पर हमारे 'मैं' का ही ताला है। जो फिर तोड़ देते हैं, वे पाते हैं कि द्वार तो सदा से खुले हुए ही थे।'

इस अंतिम वचन को खूब अच्छे से हृदयंगम करना। भीतर कोई दरवाजा नहीं है जो बंद है। हमारी अहंकार की भावना जो इगो का इल्यूज़न, इसको मैं दीवार नहीं कह रहा हूं। इल्यूज़न, भ्रम, माना हुआ। जैसे रात को हम सपना देखते हैं लेकिंप सपना यथार्थ में तो कहीं होता नहीं है। लेकिन वह सपना हमें वास्तविक जगत से परिचित होने से रोक लेता है। हम सपने में उलझे हुए, खोए हैं। चारो तरफ हमारे जो हो रहा है, उससे हम बिल्कुल चूक जाते हैं। आश्चर्य की बात है, वह सपना जो कि वास्तविक नहीं है, हमें वास्तविकता से वंचित कर देता है। चारों तरफ सत्य मौजूद है, किंतु हमारे भीतर जो अहं की भावना है वह हमें परम सत्य से, उस पार ब्रह्म से मिलने से रोक देती है।

सुनने में यह बात अजीब लगेगी कि वह परम सत्य और छोटे से सपने की वजह से चूक जाता है। अहं की वजह से, ब्रह्म से हम चूक जाते हैं। इसको एक उदाहरण से समझना। आंख में एक धूल का कण चला जाए, पलक बंद हो जाती है और सामने खड़ा हिमालय दिखाई पड़ा बंद हो जाता है। अब हिमालय देखने के लिए रूकावट, कोई पूरे हिमालय को आंख में उतरने की जरूरत नहीं है। एक छोटा सा धूल का कण वह काम कर देता है। ठीक ऐसे ही अहं का जो इल्यूजन है, वही ब्रह्म को जानने में सबसे बड़ी बाधा है।

अंतिम प्रश्न : मादक द्रव्यों का इस्तेमाल क्यों बढ़ रहा है?

जब तक लोग कष्ट-संताप में हैं, तब तक किसी न किसी प्रकार से तनाव-विस्मरण के साधन खोजते रहेंगे।

एक पति ने कहा- तुम औरत होकर दारू पीती हो, शर्म नहीं आती?

पत्नी बोली- क्या दो-तीन पैग की खातिर जेंडर चेंज आपरेशन कराऊं! और ये तो बताओ कि तुम कौन हो मुझे उपदेश देने वाले? किस धर्म के गुरु हो जनाब?

पति- अरे बेगम, तुम नशे में मुझे भी भूल गईं, मैं तुम्हारा...

पत्नी- अरे, गुस्सा क्यों हो? नशा सब प्रकार के गम भुला देता है, भाई साहब!

मैंने सुना है कि इतिहास के शिक्षक ने पूछा- मनुष्यों की जिंदगी में सुख-चैन और शांति लाने वाले दो महान सम्राटों के नाम बताओ। टेल मी नेम ऑफ टू किंग्स हू ब्रॉट पीस फार मेनकाइन्ड? विद्यार्थी बोला- सर, स्मो-किंग और ड्रिं-किंग।

मादक दवाएं लेकर कुछ समय के लिए तनाव-विस्मरण हो जाता है, किंतु दुख-समाप्ति नहीं होती। वह तो प्रज्ञा और ध्यान के संयोग से ही संभव है। निमंत्रण है जिज्ञासुओं का, असली मदिरापान यानी ध्यान की कला सीखने हेतु। **जय ओशो।**

प्रवचन 13

अंतर्यात्रा का अर्थ

पहला प्रश्न : दुनिया में मेरा मन क्यों नहीं लगता? निराशा-सी घेरे रहती है। क्या करूं?

इस प्रश्न को मैं निराशात्मक दृष्टिकोण से नहीं देखता बल्कि यह बहुत ही सकारात्मक अनुभव है। संसार में सफलता पाने के बावजूद भी निराशा का एहसास होना आध्यात्मिक क्रांति का बिंदु है, एक टर्निंग प्वाइंट। सामान्यतः हम अपनी भाषा में निराशा को, हताशा को, डिप्रेशन को एक ही प्रकार का जानते हैं। मैं निवेदन करना चाहूंगा कि दो प्रकार के हैं। एक व्यक्ति मानसिक रूप से रुग्ण हो जाता है, डिप्रेशन का शिकार हो जाता है। अगर वह अपनी मनोवांछित कामनाओं को पूरा न कर पाया। उसकी अपेक्षाएं थीं कि यह पा लूं, वह पा लूं। अगर वैसा किसी कारणवश नहीं हो सका तो वह डिप्रेशन में चला जाता है और आत्म हत्या का विचार आने लगता है। निश्चित रूप से वह एक मानसिक रोग है।

एक अन्य प्रकार की निराशा है, जिसको निराशा कहना ठीक नहीं है। एक बहुत पॉजिटिव टर्म है। प्रश्नकर्ता डिप्रेशन के शिकार नहीं हैं बल्कि वैराग्य भावना में जा रहे हैं। संसार के प्रति आसक्ति टूट रही है, मोह टूट रहा है। यह तो बड़े सौभाग्य की घटना है। डिप्रेशन के शिकार हो जाना एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है और इस प्रकार वैराग्य की भावना उत्पन्न होना एक खुशकिस्मती की बात है।

तो ये दो बिल्कुल भिन्न-भिन्न बातें हैं। एक आत्म हत्या की तरफ ले जाती है और दूसरी आत्म रूपांतरण की तरफ। एक टर्निंग प्वाइंट आता है। दुनिया में हम जो करना चाहते थे वह कर लिया। जो पाना चाहते थे वह पा लिया और फिर भी लगता है कि कुछ बात बनी नहीं। कुछ मजा आया नहीं। जिस शांति की, जिस आनंद की तलाश थी वह तो मिला ही नहीं। धन कमा लिया, ऊंचे पद पर पहुंच गए, प्रेम हासिल कर लिया, घर-गृहस्थी बसा ली, बड़ी मित्र मंडली है। सब कुछ है। ज्ञान अर्जित कर लिया, यश, प्रतिष्ठा अर्जित कर ली और भीतर खोखले की खोखले हैं। कोई आनंद नहीं, कोई तृप्ति नहीं, कोई शांति नहीं, मामला क्या है? ऐसी निराशा ध्यान की तरफ उन्मुख करने वाली होती है। साधना के जगत में प्रवेश कराने वाली होती है।

तो बाहर–बाहर तो तुमने खोज लिया लेकिन अभी एक जगह और बाकी है, जहां तुमने नहीं खोजा। क्या वहां नहीं खोजोगे? वह दिशा तुम्हारी भीतर की है। बहिर्यात्रा तुमने कर ली, बाहर की उपलब्धियां कर लीं अब अपने भीतर भी डूबो। अब स्वयं को जानो, अब स्वयं को भी पाओ। और हैरानी की बात है, भीतर जो गया उसने परम संपदा को पाया। उसने परम तृप्ति का, परमानंद का, सच्चिदानंद का एहसास किया। इसलिए मैंने कहा– तुमने प्रश्न में निराशा शब्द का प्रयोग जरूर किया है, किंतु मैं इसको निराशापूर्ण अवस्था नहीं मानता। यह तो बहुत ही आशापूर्ण अवस्था है। सौभाग्यशाली हैं वे लोग जो बाहर के संसार से थक गए। इसलिए नहीं कि कमजोर थे, बल्कि सब पाकर जिन्होंने देख लिया है, पाकर भी कुछ नहीं मिलता। अब ऐसे लोग अंतर्मुखी होने के लिए तैयार हो गए हैं, उनकी भूमिका बन गई है। आज नहीं कल, कल नहीं परसों वे भीतर की तरफ मुड़ेंगे ही मुड़ेंगे। बदकिस्मत तो वे लोग हैं, जिनको ऐसी समझ विकसित नहीं हो पाई। जो बाहर की दौड़ में, आपाधापी में लगे हुए हैं। क्षुद्र चीजों को पाने के लिए ही बेचैन, परेशान, चिंतित और भयभीत हैं।

इसलिए मैंने कहा कि निराशा दो प्रकार की होती हैं। एक सामान्य हताशा, डिप्रेशन और फ्रस्ट्रेशन। और दूसरा वैराग्य की भावना। जिस प्रश्नकर्ता ने यह सवाल पूछा है, यह वैराग्य की भावना से ओत–प्रोत हो रहा है। इसको एक छोटी–सी उपमा देकर समझता हूं–

समझो एक हंस था। हिमालय के ऊंचाइयों पर, मानसरोवर झील के स्वच्छ जल में वह रमण करता था। फिर किसी कारणवश वह नीचे आया और किसी तालाब के किनारे रहने लगा। फिर धीरे–धीरे लंबा वक्त बीत गया और वह भूल ही गया कि वह मानसरोवर का वासी है। वह स्वच्छ आकाश, वह स्वच्छ जल, वह निर्मलता, वह पावनता, वह हिमालय की ऊंचाइयां सबकुछ भूल गया। वह तलाब के किनारे रहने लगा और उसको कहीं न कहीं लगता रहता है कि मजा नहीं आ रहा है। कुछ बात बन नहीं रही है। कभी वह सोचता है कि तालाब छोटा है और बड़े तालाब को ढूंढूं और दूसरे तालाब के पास चला जाता है। वहां भी उसको मजा नहीं आता। कभी लगता है कि तालाब चौकोर है, काश यह गोल होता। गोल करने का प्रयास करता है और फिर भी तसल्ली नहीं होती। सोचता है कि इस तालाब में मछलियां कम हैं, कुछ रंग–बिरंगी मछली ले आऊं। वह भी कर लेता है लेकिन फिर भी तसल्ली नहीं होती। उसे लगता है कि यह मिट्टी का किनारा ठीक नहीं, संगमरमर का किनारा होना चाहिए। उसका भी इंतजाम कर लेता है।

सुंदर सीढ़ियां बनवा लेता है फिर भी भीतर तसल्ली नहीं होती। इस तलाब के साथ वह कुछ भी करेगा, उसको कभी तसल्ली नहीं होगी। क्योंकि कहीं गहन स्मृति छिपी हुई है– खूबसूरत मानसरोवर झील की। वैसा यहां कभी भी नहीं हो सकता है। इस तालाब के गंदे पानी से दुर्गंध आती ही रहेगी। वह चाहे इत्र छिड़के, चाहे फ्रेंच बाजार की खुशबू मिलाकर पानी में डाल दे फिर भी दुर्गंध नहीं मिटेगी। छुप जाएगी थोड़ी देर के लिए। फिर दुर्गंध

आएगी। मानसरोवर की भिनी–भिनी याद उसको बार–बार कहती ही रहेगी। कुछ मन लग नहीं रहा।

यह मन नहीं लगना सौभाग्य है। इससे पता चलता है कि तुम मानसरोवर के वासी हो। तुम वहां के हंस हो और यहां आकर तुम बगुला जैसे बैठ गए हो। यहां तुम्हारा मन नहीं लग सकता, कभी नहीं लगेगा। चाहे इस तालाब को तुम कितना ही बदल डालो। तो हमारी पहली भूल–चूक यही होती है कि तालाब में भूल–चूक है, हम इसको सुधारें। यह स्थिति ठीक नहीं है, यह मकान अच्छा नहीं है, यह कार छोटी है, यह पति अच्छा नहीं है, यह पत्नी अच्छी नहीं है, दूसरी शादी कर लें, यह बच्चे ठीक नहीं हुए दूसरी संतान हो जाए। दूसरी नौकरी करूं, इस शहर को छोड़ दूसरे शहर चला जाऊं। देश को छोड़ परदेश में जाकर बसूं। यह करूं, वह करूं, हम सब तालाब को बदलने की कोशिश कर रहे हैं। अच्छा है कि सभी कोशिशों के बावजूद जब यह बात समझ में आती है कि तसल्ली हो ही नहीं रही, किसी हालत में नहीं हो रही है; तब एक नया आयाम खुलता है– अपने भीतर डूबने की तरफ एक संकेत मिलता है। इसलिए इस निराशा को मैं बहुत आशावादी दृष्टिकोण से देखता हूं। किसी संत ने कहा है 'चलु हंसा वा देस' हंस, चल अब फिर मानसरोवर के देश। अपने भीतर डूबने की तरफ इशारा है।

दूसरा प्रश्न : सद्‌गुरु, ओशो की एक किताब का शीर्षक है– 'अंतर्यात्रा' इस शब्द का भावार्थ समझ नहीं आया, बताने की कृपा कीजिए?

हमारे अंदर भी कुछ है, हमारे भीतर भी कुछ है। किसी ने हमें कभी बताया ही नहीं। इसलिए जब ऐसा शब्द सुनते हैं– (इनरजर्नी) अंतर्यात्रा, तो आश्चर्य होता है कि अंतर्यात्रा क्या है? बाहर की यात्राएं हमें पता है। हमें ट्रेन की टाइम टेबल याद है, फ्लाइट कब, कहां कितने बजे जाती है, कितने घंटे में पहुंचती है, वह सब हमें पता है। अगर नहीं पता है तो गूगल सर्च कर लेंगे तो हमें मिल जाएगा। कैसे–कैसे हमें यात्राएं करनी हैं, बाहर का सारा ज्ञान हमें पता है। पद यात्रा करनी है, कि नाव से यात्रा करनी है, कि पानी के जहाज से जाना है। हजारों–हजारों साधन हैं यात्रा के। हजारों मंजिलें हैं। इस देश में जाना है, उस देश में जाना है। पहाड़ देखने जाना है, कि समुद्र देखने जाना है, कि तीर्थ देखने जाना है। बाहरी यात्राओं की हमें बहुत जानकारी है। स्वभाविक रूप से जब हम सुनते हैं 'अंतर्यात्रा' तो मन चौंकता है। अंतर्यात्रा क्या होती है, इसका टाइम टेबल क्या है, वहां कैसे पहुंचेंगे, जाने का साधन क्या होगा? मन में कई सवाल उत्पन्न हो जाते हैं। अंतर्यात्रा होती भी है या नहीं, इस पर ही संदेह खड़ा हो जाता है। 'अंतर' यानी क्या? 'भीतर' यानी क्या? स्वभाविक है ऐसा सवाल उठना। यह व्यक्ति निश्चित रूप से बुद्धिमान है, विवेकपूर्ण है तभी ऐसा प्रश्न इसके चित्त में उत्पन्न हुआ। महत्वपूर्ण मुद्दा है। आइए इस संदर्भ में मैं ओशो का एक पत्र 'पथ के

प्रदीप' नामक किताब से पढ़कर सुनाता हूं। उसमें इस सवाल का जवाब मिल जाएगा।

'सत्य स्वयं के भीतर है, उसे पहचान लेना भी कठिन नहीं। लेकिन उसके लिए अपने ही भीतर यात्रा करनी होगी। जब कोई अपने भीतर जाता है तो अपने ही प्राणों के प्राण में वह सत्य को भी पा लेता है और स्वयं को भी। पहले महायुद्ध की बात है। एक फ्रांसिसी सैनिक को किसी रेलवे स्टेशन के पास अत्यंत क्षत-विक्षत स्थिति में पाया गया था। उसका चेहरा इतने घावों से भरा था कि उसे पहचानना कठिन था कि वह कौन है? उसे पहचानना और भी कठिन हो गया था कि उसके मस्तिष्क पर चोट आ जाने से वह स्वयं भी स्वयं को भूल गया था। उसकी स्मृति चली गई थी। पूछे जाने पर कहता था- मैं नहीं जानता मैं कौन हूं और कहां से हूं? और यह बताते ही उसके आंखों से आंसुओं की धार लग जाती थी।

अंततः तीन परिवारों ने उसे अपने परिवार से संबंधित होने का दावा किया। वह तीन परिवार से हो यह तो संभव नहीं था। इसलिए उसे क्रमशः तीनों गांवों में ले जाकर छोड़ा गया। दो गांवों में तो वह किंगकर्तव्यविमूढ़ की भांति जाकर खड़ा हो गया। किंतु तीसरे गांव में प्रविष्ट होते ही उसकी फीकी आंखें एक नई चमक से भर गईं और उसके भाव शून्य चेहरे पर किन्हीं भावों के दर्शन होने लगे। वह स्वयं ही एक छोटी गली में गया और फिर एक घर को देखकर दौड़ने लगा। उसके सोए से प्राणों में कोई शक्ति जैसे जाग गई हो। वह अपना घर पहचान गया था। उसका निवास स्थान उसकी स्मृति में आ गया था। उसने आनंद से विभोर होकर कहा था कि यही मेरा घर है और मुझे स्मरण आ गया है कि मैं कौन हूं।

ऐसा ही हम में से प्रत्येक के साथ हुआ है। हम भूल गए हैं कि हम कौन हैं? हम भूल गए हैं कि हमारा घर कहां है? अपना घर दिख जाए तो स्वयं को पहचान लेना सहज ही हो जाता है। जो व्यक्ति बाहर ही यात्रा करता रहता है, वह कभी उस गांव में नहीं पहुंचता जहां कि उसका वास्तविक निवास स्थान है। और वहां न पहुंचने से वह स्वयं तक ही नहीं पहुंच पाता है। बाहर ही नहीं, भीतर भी एक यात्रा होती है जो स्वयं तक और सत्य तक ले जाती है।'

बाहर चार दिशाएं हैं, एक ऊपर-नीचे के भी गिन लो छः दिशाएं हैं। सातवीं दिशा स्वयं के भीतर है। लेकिन सामान्यतः जगत में उसकी कोई चर्चा नहीं होती। संसार बहिर्मुखी है। अध्यात्म का आयाम अंतर्मुखी का आयाम है।

तो निश्चित रूप से अंतर्यात्रा करनी होगी। अपने भीतर जाना होगा। हम कहां रह रहे

हैं, वह अपनी अंतर्आत्मा, वह अपना निवास स्थान खोजना होगा और उस इनरस्पेस को, अंतर्आकाश को जानकर 'मैं कौन हूं' इसका भी ज्ञान हो जाता है। बाहर के जगत में हम जिसे अपना होना कहते हैं, वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है।

आपको एक विशेष नाम आपके माता–पिता ने दिया, वह नाम आपका नहीं था। आपका जन्म बिना नाम के हुआ था। माता–पिता अगर कुछ और नाम रख देते तो वह नाम हो जाता। एक्स, व्हाई, जेड कुछ भी हो सकता था। इसका मतलब कोई भी नाम आपका सच्चा नाम नहीं है। फिर यह देह है– इसका रंग, रूप, आकार यह माता–पिता के द्वारा मिला है। उनके अणुओं से बनकर यह देह विकसित हुई। हो सकता है कि आपकी आंखें मां के सामान हों, आपका रंग पिता के सामान हो, आपको जेनेटिक बीमारियां उन्हीं के पूर्वजों के हिसाब से मिलेंगी। कितनी आपकी उम्र होगी, आपकी पिछले दो–तीन पीढ़ियों की उम्र देखकर बताया जा सकता है उसका एवरेज। सब कुछ तय है इस शरीर के बारे में।

बच्चा जो होगा वह स्त्री होगी या पुरुष, वह सब पहले से ही तय हो चुका है। उनके माता–पिता के अणु जब मिले थे, तब बहुत–सी बातें हो चुकी हैं। देह के बारे में सब कुछ हो चुका है। अर्थात् यह देह भी आपकी नहीं है। यह आपका वास्तविक स्वरूप नहीं है। फिर विचार, धारणाएं, शास्त्र, सिद्धांत यह आस–पास परिवेश से हमने ग्रहण किया है। शिक्षा प्रणाली, स्कूल–कॉलेज उन्होंने जानकारियां दीं। उससे हमारा मन निर्मित हुआ। तो देह माता–पिता और पूर्वजों की शृंखला से आई। मन ज्ञान से, शिक्षा से आया। वह समाज के द्वारा निर्मित है। वह भी हमारा स्वरूप नहीं है।

संयोग की बात कि एक बच्चा का हिंदू घर में पालन–पोषण हुआ, उसका मन हिंदू विचारधारा वाला हो गया। अगर अस्पताल में नर्स की गलती से उस बच्चे को मुसलमान मां के पास रख दिया जाता और मुसलमान बच्चे को हिंदू मां के पास रख दिया जाता तो उन्हें कभी भी न पता चलता कि वह हिन्दू है कि मुसलमान। अगर बच्चा मुसलमान के घर में बड़ा होता तो मुस्लिम धारणाएं उसकी चित्त में होतीं। अर्थात् मन परिवार के द्वारा, समाज के द्वारा, शिक्षा के द्वारा निर्मित किया गया है। वह भी हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। फिर हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं कौन हूं? इसे कैसे जानूं? तो नाम, रूप, तन, मन, ज्ञान, विचार इन सबके पार अपने भीतर डुबकी लगानी होगी। उसी का नाम है– (इनर जर्नी) अंतर्यात्रा। थोड़ी देर के लिए बाहर से छूट जाएं, थोड़ी देर के लिए इनको भूल जाएं और अपने भीतर उस स्पेस को महसूस करें जहां हमारा होना है। तब हम अपने वास्तविक निवास को पहचान पाएंगे और अपने घर को पहचानते ही याद आ जाती है कि 'मैं कौन हूं।' आत्मज्ञान के अभाव में हम जो भी मानते हैं, वह गलत है। हमें स्वयं का होश नहीं, तब किसी अन्य का क्या खाक होगा! किसी ने पूछा– स्त्री और पुरुष में आप अधिक बुद्धिमान किसे मानते हैं? उत्तर मिला– मेरे मानने या न मानने से क्या होता है, वे तो अपने आपको एक से बढ़कर एक मानते हैं! निवेदन है कि अब मानो मत, जानो। खुद को पहचानो। जय ओशो।

प्रवचन 14

जीवन का उद्देश्य

पहला प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि जीवन क्या है– आशा या निराशा, स्वर्ग या नर्क?

जीवन स्वयं अपने आप में कुछ नहीं है। न स्वर्ग है, न नर्क है। ऐसा समझो एक कोरा केनवास, एक खाली कागज। इस केनवास पर जैसे रंग हम भरेंगे वैसी आकृतियां उभर कर आएंगी। हम इसको एक खूबसूरत पेंटिंग का रूप भी दे सकते हैं और हम एक बदसूरत गंदा सा चित्र भी बना सकते हैं। हम इस पर खतरनाक राक्षसों के चित्र बना सकते हैं और अगर हम चाहें तो दिव्यता को इस कागज पर उतार सकते हैं। जीवन एक कोरा कागज है। हम चाहें तो गालियां लिख लें, हम चाहें तो गीत लिख लें और हम चाहें तो इसको कोरा छोड़ दें। वह रेडिमेड स्वनिर्मित अपने आप पहले से नहीं है। परमात्मा ने हमें स्वतंत्रता दी है हम जैसा रंग भरना चाहेंगे वैसा रंग इसमें भर जाएगा। यही मनुष्य की गरिमा है, यही मनुष्य की चेतना की महिमा है। उसकी पूर्ण स्वतंत्रता है। वह जीवन को जैसा बनाना चाहे वैसा बना ले। स्वर्ग भी बना सकता है, नरक भी बना सकता है। लेकिन नासमझी में अधिकांश लोगों ने अपने जीवन को नरक ही बना लिया है।

यदि निराशाजनक दृष्टिकोण से देखेंगे तो सब नरक हो जाएगा। अगर आशावादी दृष्टिकोण से देखेंगे सब स्वर्ग हो जाएगा। और याद रखना इन दोनों के परे भी एक तीसरी चीज है। न आशावादी दृष्टिकोण, न निराशावादी दृष्टिकोण बल्कि एक संतुलित और सम्यक दृष्टिकोण हो तो यही जीवन मोक्ष हो जाता है, निर्वाण हो जाता है, परमात्मामय हो जाता है, ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। तो एक त्रिकोण समझें। नीचे के दो कोण हैं सुख–दुख, आशा–निराशा, स्वर्ग–नर्क। एक तीसरा कोण है इन दोनों के ऊपर, दोनों के पार, दोनों का अतिक्रमण करता हुआ। वहां न सुख है, न वहां दुख है। वहां परम शांति है।

तो कम–से–कम इतनी समझदारी तो हम बरतें कि नरक से स्वर्ग में पहुंचे क्योंकि हमारा ही निर्माण है। और स्वर्ग से फिर और ऊपर उठें परम शांति की अवस्था में, निर्वाण की

अवस्था में पहुंचे। तो मैं यह नहीं कहूंगा कि जीवन क्या है? जीवन सिर्फ एक अवसर है। इस अवसर का हम कैसा उपयोग करते हैं, हम सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरूपयोग भी कर सकते हैं। हैरानी की बात यही है कि दुनिया में अधिकांश लोगों ने जीवन का दुरूपयोग किया है। इस अवसर का सदुपयोग करने से वे चूक गए। और तब उनके जीवन में चिंता है, बेचैनी है, परेशानी है, मानसिक संताप हैं, हार्दिक वेदनाएं हैं। सब प्रकार से दुख ही दुख, निराशा ही निराशा उन्हें घेर लेती है। यह उनका स्वयं का निर्माण है। यह उनके गलत दृष्टिकोण का फल है। और जब अपने अनुभव से यह बात समझ में आ जाती है, तब रूपांतरण संभव है। एक सकारात्मक दृष्टिकोण और नजरिए से चलेंगे तो सब कुछ सुखमय हो जाएगा। यही जमीन स्वर्ग भी बन जाएगी। और आगे बढ़ेंगे तब हम सुख–दुख दोनों के पार परम शांति की अवस्था को ही पा लेंगे। तो मैं कहना चाहूंगा कि यह जीवन एक अवसर है।

दूसरा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि मैं कौन हूं, मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है?

आध्यात्मिक का अर्थ होता है– आत्मा का क्षेत्र। अपने भीतर से संबंधित। भीतर के जो भी महत्वपूर्ण सवाल हैं, इनका जवाब बाहर से नहीं मिलेगा। आप भूगोल के बारे में पूछें, इतिहास के बारे में पूछें, गणित के बारे में, विज्ञान के बारे में, इंजीनियरिंग और मेडिकल साइंस के बारे में तो बाहर से जवाब मिलेगा। हमारे स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय उसी के लिए हैं। बाहर के जगत की जानकारी बाहर से मिलेगी। दुनिया में विशेषज्ञ हैं, हर चीज के जानकार हैं, बड़े–बड़े विद्वान हैं वे आपको ज्ञान दे सकते हैं। लेकिन भीतर का जब सवाल है 'मैं कौन हूं' इसका उत्तर कोई दूसरा कैसे दे सकता है। मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है, यह तो मुझे भीतर ही टटोलना होगा। इसका उत्तर भी स्वयं से ही आएगा। जो प्रश्न भीतर से उत्पन्न हुआ है, उसका जवाब भी भीतर से ही आएगा बाहर से नहीं आएगा।

दक्षिण भारत में पिछली सदी के महान संत हुए हैं महर्षि रमण। वह अपने शिष्यों को यही सवाल दिया करते थे साधना पद्धति के रूप में कि स्वयं से पूछो– हू एम आई, मैं कौन हूं? इस सवाल को एक चिंतन–मनन का विषय नहीं बनाओ, इस पर विचार नहीं करना है, इस पर जानकारी इकट्ठी नहीं करनी है बल्कि यह सवाल एक तीर की तरह प्राणों में चुभता चला जाए, गहराइयों में उतरता चला जाए और फिर इंतजार करो। भीतर से उत्तर को आने दो। वह कोई बौद्धिक, इंटलेक्चुअल उत्तर नहीं होगा। वह कोई विचार नही होगा, कोई सिद्धांत नहीं होगा बल्कि एक एक्जिस्टेंसियल फीलिंग, एक अस्तित्वगत अनुभूति होगी।

तो सवाल बहुत महत्वपूर्ण है और महत्वपूर्ण इसीलिए है कि इसका जवाब कोई अन्य आपको नहीं दे सकता। हर व्यक्ति अपने भीतर स्वयं ही इसे जान सकता है। मेरा ज्ञान सिर्फ

मेरे ही काम आ सकता है बस, आपके काम नहीं आ सकता। दुनिया में हजारों लोग भी अगर जान लें कि मैं कौन हूं? तब भी उस व्यक्ति के लिए उन सबका ज्ञान किसी काम का नहीं जो इस बात को नहीं जानता है।

तो जब मैं कहता हूं कि सवाल बहुत महत्वपूर्ण है, आध्यात्मिक है, हमेशा स्मरण रखना कि इसका जवाब नगद होगा, उधार नहीं। किसी अन्य का सहयोग नहीं मिल सकता। हां, थोड़ा–सा इशारा और संकेत मिल सकता है। वह व्यक्ति यह बता सकता है कि मैंने कैसे जाना। तुम भी उस विधि का उपयोग करके जान सकते हो, लेकिन उत्तर वह नहीं देगा। क्योंकि उससे प्राप्त उत्तर हमारे लिए एक बौद्धिक जानकारी बन कर रह जाएगा। मात्र एक इंटलेक्चुअल इंफारमेशन. वह ज्ञान नहीं है। सच पूछो तो ज्ञान शब्द का हम दो प्रकार से उपयोग करते हैं। एक होता है– नॉलेज। हमने किताबों में पढ़ लिया, किसी से सुन लिया, गूगल सर्च कर लिया और जानकारी हासिल कर ली। यह जानकारी है, जस्ट इंफारमेशन. इसको भी हम ज्ञान कहते हैं और एक दूसरा ज्ञान है जो हमें स्वयं अनुभव में आता है। मैंने कोई चीज अपनी आंखों से देखी, मैंने स्वयं अपने कानों से सुना, मैंने किसी चीज को स्पर्श किया है, उसकी सुगंध ली है, उसका स्वाद लिया है, मैं उसे सीधा–सीधा जानता हूं अपने शरीर की इंद्रियों के माध्यम से। यह कोई इंटलेक्चुअल नॉलेज नहीं है।

मैं आपसे पूछूं कि मिठास क्या होती है? आप शायद बता भी न पाएंगे। यह आपकी इंटलेक्चुअल नॉलेज नहीं है। आपने किताबों में नहीं पढ़ी है कि मिठास क्या होती है? आप वास्तव में मिठास को जानते हैं। मैं आपसे पूछूं कि कड़वाहट क्या होती है? आपने स्वयं उसका स्वाद लिया है। आप कड़वाहट की व्याख्या नहीं कर पाएंगे। हो सकता है कि आपके पास प्रॉपर शब्दावली ही न हो उसको व्यक्त करने की। लेकिन फिर भी आप जानते हैं उसको। यह जानना क्या है? यह अनुभवगत जानना है, इंद्रियों के माध्यम से हमने जाना।

एक तीसरा ज्ञान है– अतीन्द्रिय ज्ञान। जहां न आंख है, न कान है, न अन्य कोई इंद्रियां हैं और फिर भी ज्ञान घटित होता है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग शास्त्र में उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। इंद्रियों के माध्यम से जब हमने जाना तो वह इनडायरैक्ट नोइंग थी। आंख के माध्यम से हमने जाना, आंख ने अपना रंग भर दिया। एक व्यक्ति कलर ब्लाइंड है, वह इस जगत को वैसा नहीं देख सकता जैसे अन्य लोग देखते हैं। आंख ने अपना रंग डाल दिया। किसी व्यक्ति के कान बधिर हो गए हैं, वह स्वरों को वैसा नहीं सुन सकता जैसे अन्य लोग सुन सकते हैं। कानों ने अपना रंग डाल दिया। बहुत हाई फ्रिक्वेंसी साऊंड को हम नहीं सुन सकते हैं। उसको हम अल्ट्रा साऊंड कहते हैं। हमारी रेंज के बाहर है। दुनिया में अन्य पशु–पंछी हैं जो अल्ट्रा साऊंड को भी सुनते हैं। उनके कान सक्षम हैं उसको सुनने के लिए। इंद्रधनुष के पार भी रंग हैं अल्ट्रा वायलेट. जो हम नहीं देख सकते लेकिन अन्य पशु–पंछियों

को दिखाई देता है। लाल से नीचे भी रंग है इंफ्रा रेड रंग, कुछ पशु–पंछियों को वह दिखाई देते हैं। हमें दिखाई नहीं देते। हमारे लिए तो अंधेरा हो जाएगा। लेकिन अन्य के लिए खासकर जो पशु–पंछी रात को विचरण करते हैं, उनके लिए वह रंग भी दिखाई देता है। उनके लिए रात में भी रोशनी होती है। हमारे लिए यह अंधेरा है।

तो हमारी इंद्रियां चीजों को परिवर्तित कर देती हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान जहां कोई इंद्रियां नहीं हैं वहां साक्षात, सीधा–सीधा प्रत्यक्ष मैं स्वयं ही स्वयं को जान रहा हूं। वह अनुभव आध्यात्मिक ज्ञान है। तो तीन प्रकार के ज्ञान हम मोटे–मोटे बांट लें। एक इंफरमेटिव नॉलेज जो हमने पढ़ा है, सुना है, कहीं से प्राप्त किया है उधार ज्ञान। वह केवल शाब्दिक और वैचारिक है, वह सैद्धांतिक है। दूसरा इंद्रियगत ज्ञान और तीसरा अतीन्द्रिय ज्ञान।

तो आध्यात्मिक सवाल का अर्थ होता है कि हम अतीन्द्रिय जिज्ञासा कर रहे हैं। मैं कौन हूं? मेरा होना स्वयं मेरी इंद्रियों के समक्ष तो नहीं हो सकता, मैं अपनी आंखों के सामने तो नहीं हो सकता, मैं तो आंखों के पीछे छुपा हूं। तो मेरा ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान ही होगा। केवल मैं ही स्वयं को जान सकता हूं, अन्य कोई भी उसे न जान सकेगा। मैं कोई आब्जेक्ट नहीं बन सकता किसी के लिए। विज्ञान की प्रयोगशाला में आत्मा को कभी नहीं जाना जा सकता है। केवल आत्मा ही आत्मा को जान सकती है। तो सवाल बहुत महत्वपूर्ण है। बस मैं इन सज्जन को यही कहना चाहूंगा कि अपने भीतर ध्यान में डूबो और स्वयं पहचानो कि तुम कौन हो।

तीसरा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि संसार और अध्यात्म दोनों की सर्वोपरि मंजिल को पाने का क्या उपाय है?

सबसे पहले अपने भीतर स्वयं को जान लो फिर इसके बाद सब कुछ ठीक होता है। स्वयं को जाने बगैर हम जो भी करते हैं वह अंधेरे में टटोलने जैसा ही होता है। हम टकराते हैं, गिरते हैं, चोट खाते हैं। जो व्यक्ति अपने भीतर शांत हो गया, जागरूक हो गया, प्रेमपूर्ण हो गया, वह संसार में भी स्वर्ग बसा लेता है और अपने भीतर भी परम मोक्ष को, निर्वाण को उपलब्ध हो जाता है।

तो निश्चित रूप से दोनों मंजिलें पाई जा सकती हैं, लेकिन दोनों में प्राथमिकता हमें आत्म ज्ञान को देनी होगी। पहले स्वयं को जान लो। जो व्यक्ति भीतर अंधेरे में है, बाहर वह कुछ भी करेगा उसे हमेशा लगेगा कि सफलता हासिल नहीं हुई। शायद अन्य लोग समझेंगे कि सफल हो गया लेकिन भीतर–भीतर वह जानता ही रहेगा कि मैं भटक रहा हूं और कोई तृप्ति नहीं, कोई शांति नहीं, कोई संतुष्टि नहीं। तो संसार और अध्यात्म दोनों की मंजिल पाने के पहले; अपने भीतर की मंजिल पहले पा लो। पहले अध्यात्मिक फिर तुम बाहर जो भी

करोगे वह भी उचित होगा, सम्यक होगा और एक सफलता और सुफलता का एहसास उसमें होगा, एक तृप्ति का एहसास होगा।

चौथा प्रश्न : संतों का यह प्रसिद्ध वचन है– 'जीवित मरिए, भवजल तरिए' कृपया इसका भावार्थ समझाएं?

महत्वपूर्ण वचन है। यह विधि है जानने की कि मैं कौन हूं? काश हम जीते जी कुछ क्षणों के लिए ऐसे हो जाएं मृतवत। इतने रिलैक्स्ड, इतने शांतिपूर्ण कि जैसे हैं ही नहीं। उन क्षणों में अहंकार विलीन हो जाता है और स्वयं की आत्म सत्ता का सीधा–सीधा प्रत्यक्ष एहसास होता है। जब हम क्रियाओं में संलग्न हैं, बाहर के जगत में कुछ करने में व्यस्त हैं, तब हमें अपनी आत्म सत्ता का पता नहीं चलता। तब हमें अहंकार भाव उत्पन्न होता है। इस अहंकार का मर जाना उसकी तरफ इशारा है यह कहने में कि 'जीवित मरिए, भवजल तरिए।' सद्गुरु ओशो की एक किताब का शीर्षक है 'मरो हे जोगी मरो' यह संत गोरख नाथ के वचन पर आधारित है। इसमें उसी मृत्यु की ओर इशारा कर रहे हैं जो ध्यान में, समाधि में घटित होती है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि समाधि की पराकाष्ठा को भी हम उसी नाम से पुकारते हैं, जिस नाम से हम कब्र को पुकारते हैं। क्या समानता है दोनों में? समाधि में भी व्यक्ति का अहंकार विलीन हो जाता है, वह मर जाता है। आइए इस संदर्भ में मैं 'पथ के प्रदीप' किताब से सद्गुरु ओशो का एक पत्र आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा।

उन्होंने लिखा है– 'सत्य और स्वयं में जो सत्य को चुनता है वह सत्य को भी पा लेता है और स्वयं को भी। और जो स्वयं को चुनता है, वह दोनों को खो देता है। मनुष्य को सत्य होने से पूर्व स्वयं को खोना पड़ता है। इस मूल्य को चुकाए बिना सत्य में कोई गति नहीं है। उसका होना ही बाधा है। वही स्वयं सत्य पर परदा है, उसकी दृष्टि ही अवरोध है। वह दृष्टि जो कि 'मैं' के बिंदु से विश्व को देखती है, अहं दृष्टि के अतिरिक्त उसे सत्य से और कोई भी पृथक नहीं किए है। मनुष्य का 'मैं' हो जाना ही परमात्मा से उसका पतन है। 'मैं' की पार्थिवता में ही वह नीचे आता है और 'मैं' को खोते ही वह अपार्थिव और भागवत सत्ता में ऊपर उठ जाता है। 'मैं' होना नीचे होना है, 'न मैं' हो जाना ऊपर उठ जाना है।

किंतु जो खोने जैसा दिखता है, वह वस्तुतः खोना नहीं पाना है। स्वयं की जो सत्ता खोनी है, वह सत्ता नहीं स्वप्न ही है और उसे खोकर जो सत्ता मिलती है, वही सत्य है। बीज जब भूमि के भीतर स्वयं को बिल्कुल खो देता है, तभी वह अंकुरित होता है और वृक्ष बनता है।

अगर बीज की दृष्टि से देखेंगे तो ऐसा लगेगा कि बीज मरा। लेकिन दूसरी तरफ से देखेंगे तो अंकुर पनपा। अब असली जीवन की शुरुआत हुई। ठीक ऐसे ही हमारे ऊपर एक अहंकार का कवच है। शायद हमारे प्रोटेक्शन के लिए ही है। लेकिन जब तक यह टूटे ना, गले ना तब तक हमारे भीतर का वास्तविक संभावना वाला बीज वास्तविकता नहीं बन पाएगा।'

जैसे अंडे के ऊपर एक कवच होता है, लेकिन जब वह कवच टूटता है तभी चूज़ा बाहर निकलता है और वास्तविक पंछी का विकास शुरू होता है। कुछ ऐसा ही है अहंकार का कवच। एक समय तक वह हमारे लिए रक्षात्मक है, प्रोटेक्टिव है। लेकिन एक समय के बाद वही बाधा बन जता है। 'जीवित मरिए, भवजल तरिए' अर्थात् बीज का गलना, अर्थात् अंडे की कवच का टूटना, अर्थात् अहंकार का मरना। वास्तविक परम जीवन का एहसास तभी होता है। 'मैं कौन हूं' का ज्ञान तभी होता है। स्वयं से अपरिचित रहते हुए जीना, सच्चा जीवन नहीं है। सुनो ये लतीफे–

ट्रेन के डिब्बे में सूचना लिखी थी– बिना टिकिट वाले यात्री होशियार!
नसरुद्दीन– अरे वाह, हमने टिकिट ली है तो हम बेवकूफ़ हैं क्या?

पति– रात में मोबाइल को चार्जिंग में मत लगाओ, बैटरी में विस्फोट हो सकता है।
पत्नी– चिंता न करो जी, मैंने बैटरी निकाल कर आलमारी में सुरक्षित रख दी है।

'अगर सिर्फ एक दिन औरतों के नाम है तो बाकी के 364 दिन और क्या हैं? साल भर तो उन्हीं की चलती है।'– 8 मार्च को महिला दिवस मनाये जाने पर मुल्ला नसरुद्दीन ने सख्त आपत्ति की– 'साल में एक दिन 'पुरुष दिवस' भी क्यों नहीं मनाया जाता?'

बेगम ने करारा जवाब दिया– 'पुरुष दिवस' साल में दो बार तो पड़ता है। अलग से मनाने की क्या जरूरत? अरे अक्लमंद, जरा सोचो तो सही! 1 अप्रैल और 1 मई किसके नाम हैं– मूर्ख दिवस और मजदूर दिवस!'

जब भी आप महसूस करें कि– 1 आपकी पत्नी बेहद खूबसूरत है। 2 तीखे नयनों वाली है। 3 इंटेलीजेंट है। 4 गृहलक्ष्मी है। 5 आपसे कोई अपेक्षा नहीं रखती है। 6 निस्वार्थ भाव से परिवार की सेवा में समर्पित है। 7 आपके लिए आसमां से उतरी परी है। तब ये पक्का समझ लें कि जिसका सेवन आपने किया है वह उच्चकोटि की मदिरा है।

निमंत्रण है आत्मिक बेहोशी से जागकर खुद को पहचानने के लिए। अहंकार मरता है, ओंकार प्रगट होता है। मिथ्या मैं की समाप्ति, वास्तविक मैं का जन्म! **जय ओशो।**

प्रवचन 15

संत और सामान्य मनुष्य के जीवन में अंतर

पहला प्रश्न : महान संतों के जीवन और सामान्य आदमी के जीवन में इतना फर्क क्यों है? भगवान ने सबको समान क्यों नहीं बनाया?

अस्तित्व की तरफ से तो सबको समान अवसर मिले हैं। लेकिन हम कैसे उसका उपयोग करते हैं उस पर निर्भर करेगा कि उसका क्या परिणाम होते हैं। एक उदाहरण से समझें। दो गृहणियां हैं। एक को खाना पकाने की कला आती है, दूसरे को नहीं आती है। दोनों की किचन में एक सी चीजें मौजूद हैं खाना पकाने के लिए। ईंधन उपलब्ध है, बर्तन उपलब्ध हैं, सब्जियां हैं, रोटी है, दाल, चांवल, गेहूं, नमक, मिर्च-मसाले सब कुछ मौजूद हैं। लेकिन एक गृहणी जो खाना पकाने में कुशल है, वह बहुत स्वादिष्ट व्यंजन बना सकती है, पोषक भोजन बना सकती है जो स्वास्थ्य के लिए लाभकारी हो। और दूसरी महिला जिसको भोजन पकाने की कला नहीं आती वह बिल्कुल स्वादिष्ट भोजन नहीं बना सकती है। किसी को खाते भी न बने या पोषक न हो नुकसानदायी हो, अनहाइजिनिक हो, बीमारी फैलाने वाली बन जाए, फूड प्वाइजनिंग हो सकती है। जरा सी गलती और सब कुछ गलत हो जाता है।

तो अवसर प्रकृति के तरफ से सब को समान मिले हैं, उसमें कोई भेद नहीं है, कोई अंतर नहीं है। लेकिन जीवन की कला हमें विकसित करनी होती है। रॉ मटेरियल सबको एक सा मिला हुआ है। लेकिन हम उसका कैसे उपयोग करेंगे? हो सकता है कि कोई माचिस से अपना हाथ जला ले। भिंडी काटते समय अपनी उंगली ही काट ले। अब इसमें कोई चाकू का दोष तो नहीं है और न भिंडी का दोष है। अगर बेहोशी में सब्जी काटते-काटते अपनी उंगली कट जाए तो किसका दोष है? हमारी मूर्च्छा का दोष है, बेहोशी का दोष है। हम जिन्हें महापुरुष कहते हैं, उनका जीवन सुव्यवस्थित जीवन है, वेल डिसिप्लिंड. सब चीजें वहां हैं जहां होनी चाहिए। और सामान्य व्यक्ति का जीवन बड़ा अराजक, क्योरिटिक जीवन है। चीजें तितर-बितर पड़ी हुई हैं। चीजें वहीं हैं, गलत जगह पर हैं। जहां होना चाहिए वहां नहीं है। समझो गलती से किसी ने चाय में शक्कर की जगह नमक डाल दिया। कहे कि सामान तो मुझे यहीं मिला हुआ था। और उसे पहचान नहीं कि शक्कर क्या है और नमक क्या है? तो चाय तो बर्बाद हो गई। कहे कि कैसी बेकार की चाय बनी है? जो सामान बनना

चाहिए था वह न बन कर कुछ और ही बन गया।

तो महान संतों का जीवन सुव्यवस्थित है और सामान्य व्यक्ति का जीवन बड़ा तितर-बितर हैं, चीजें फैली हैं यहां-वहां अराजक तरीके से। इसलिए दोनों के परिणाम बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। तो यह मत पूछिए कि भगवान ने अलग-अलग ढंग से क्यों बनाया? भिन्न-भिन्न अवसर क्यों दिए? अवसर सबको समान ही मिले हैं, लगभग समान। पांच-दस प्रतिशत का भेद होता है हम सबके जीवन में। करीब-करीब सात अरब लोग हैं इस धरती पर लेकिन सबका जीवन समान ही है। छुट-पुट भेद हो सकते हैं कुछ खास नहीं।

दूसरी बात मैं कहना चाहूंगा कि हम जिन्हें महापुरुष कहते हैं, उनके जीवन में भी कठिनाईयां आती हैं, मुसीबतें आती हैं। लेकिन वे डट कर उनका सामना करते हैं और समस्या का हल निकालने का प्रयास करते हैं, उसको एक चुनौती की तरह लेते हैं। सामान्य व्यक्ति के राह में जब कोई अवरोध आता है तो वह सोचता है कि बस अब इसके आगे मेरी गति नहीं हो सकेगी। महापुरुष वह है जो अवरोध को सीढ़ी बना लेता है। राह के पत्थर भी उसको ऊंचे उठाने वाले बन जाते हैं। मुसीबतें आती हैं। किसी भी महापुरुष के जीवन को देख लीजिए। सामान्य व्यक्ति से भी ज्यादा मुसीबतें आती हैं। लेकिन वे उसका सदुपयोग कर लेते हैं। क्या भगवान का जीवन, राम का जीवन, कि कृष्ण का जीवन बिना अवरोधों के था? कितनी मुसीबतें आईं। इतनी मुसीबतें तो सामान्य व्यक्ति को भी नहीं आती। परिवार के लोगों ने ही इतनी मुसीबतें खड़ी कर दी। कृष्ण जब पैदा हुए तो उनके मामा ही उनको मारने के लिए तैयार खड़े थे। कितनी मुसीबत! भगवान राम को कितनी मुश्किलें झेलनी पड़ी हैं, लेकिन उन्होंने हर चीज का सदुपयोग कर लिया। वह मुसीबत ही उनको निखारने का कारण बन गई। और सामान्य व्यक्ति मुसीबत को देखकर हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाता है। वह निराशा से भर जाता है कि अब कुछ न हो सकेगा।

तो परिस्थितियों में भेद नहीं है, मनस्थितियों में भेद है। क्या महात्मा गांधी के जीवन में कम मुश्किलें थीं? पग-पग पर मुश्किलें थीं। कितनी जगह परास्त होना पड़ा, हारना पड़ा लेकिन फिर डटे रहे। जो मंजिल एक बार ठान ली थी कि हासिल करनी है, उसको कर के ही रहे। और अंततः एक दिन सफल होकर रहे। बड़े-से-बड़े महापुरुषों के जीवन में चाहे वह आध्यात्मिक हों, राजनीतिक हों, चाहे वैज्ञानिक हों, कि साहित्यकार हों हम यही घटना देख सकते हैं। एडिसन ने एक हजार से ज्यादा आविष्कार पेटेंट कराए। क्या एक बार में ही एक आविष्कार हो गया? नहीं, सैकड़ों प्रयोग करने पड़े। निन्यानबे बार तो असफल हुए तब जाकर सौवीं बार में किसी चीज में सफलता मिली। कई बार तो पांच-पांच सौ, छः-छः सौ प्रयोग चले। क्या-क्या नहीं किया बिजली का बल्ब बनाने के लिए। सुअर के बाल में विद्युत प्रवाहित करके देखी कि शायद इससे रोशनी पैदा हो। उसकी प्रयोगशाला एक प्रकार की अजायब घर बन गई थी। बिजली का बल्ब बनाने में इतना समय लगा। क्या-क्या प्रयोग नहीं किया, अंत में आया टंगस्टन का वायर। हम पुराने प्रयोगों को भूल जाते हैं, जहां उसको असफलता मिली। हमें सिर्फ सफलता की कहानी याद रह जाती है। याद रखना, हर सफलता के पीछे बहुत-बहुत असफलताएं होती हैं। लेकिन महापुरुष वह है जो निराश नहीं

होता, जिसे पता है कि एक दिन तो सफलता हासिल होनी ही है। वह और उम्मीद, उत्साह और उमंग से भरकर फिर प्रयोग करने को राजी होता है। बस यही फर्क है। तो भगवान के तरफ से कोई फर्क नहीं है। हमारे दृष्टिकोणों का, हमारे नजरिए का फर्क है।

दूसरा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि मुझे जिंदगी एक निरर्थक भटकन जैसी क्यों महसूस होती है?

महत्त्वपूर्ण सवाल है। अभी-अभी जो मैं कह रहा था उसी से संबंधित है। जिस व्यक्ति का घर कियोटिक है, सामान यहां-वहां पड़ा है, ढूंढने से उसे कुछ नहीं मिलता। बहुत लोग इसी प्रकार के घर में रहते हैं। उन्हीं का रखा सामान उन्हीं को नहीं मिलता। सब चीजें तितर-बितर हैं। जो जहां हैं बस वहां उसे नहीं होना चाहिए था। निश्चित रूप से इन लोगों को लगेगा कि सब कुछ निरर्थक है, किसी चीज का कोई उपयोग नहीं है। अर्थ हमारे जमाने से आएगा। हम चीजों को सुव्यवस्थित करेंगे तब एक सार्थकता, एक उद्देश्य पैदा होगा। जीवन को जमाने की कला सीखनी होगी।

सद्‌गुरु ओशो की किताब 'पथ के प्रदीप' में बड़े प्यारे साधना सूत्र, जीवन को जमाने के सूत्र हैं। आइए एक सूत्र आपको पढ़कर सुनाता हूं-

'जीवन एक कला है। वह कैसे भी जी लेने का नाम नहीं है। वस्तुतः जैसा उद्देश्य जीता है, वही केवल जीता है। जीवन का क्या अर्थ है? क्या है हमारे होने का अभिप्राय? हम क्या होना और क्या पाना चाहते हैं? यदि जीवन में गंतव्य का बोध न हो तो गति सम्यक कैसे हो सकती है? और यदि कहीं पहुंचना ही न हो तो संतृप्ति को कैसे पाया जा सकता है? जिसे समग्र जीवन के अर्थ का विचार नहीं है, उसके पास फूल तो हैं और वह उनकी माला भी बनाना चाहता है, किंतु उसके पास ऐसा धागा नहीं है जो उन्हें जोड़ सके और एक कर सके। अंततः वह पाएगा कि फूल माला नहीं बन सके हैं और उसके जीवन में न कोई दिशा है और न कोई एकता है। उसके समस्त अनुभव आणविक ही होंगे और उनसे उस ऊर्जा का जन्म नहीं होगा जो कि ज्ञान बन जाती है। वह जीवन के उस समग्र अनुभव से वंचित ही रह जाएगा जिसके अभाव में जीना और न जीना बराबर हो जाता है। उसका जीवन एक ऐसे वृक्ष का जीवन होगा, जिसमें कि न फूल लगे, न फल लगे।

ऐसा व्यक्ति सुख-दुख तो जानेगा लेकिन आनंद नहीं। क्योंकि आनंद की अनुभूति तो जीवन को उसकी समग्रता में अनुभव करने से ही उत्पन्न होती है। आनंद को पाना है तो जीवन को फूलों की एक माला बनाओ और समस्त अनुभवों को एक लक्ष्य के धागे से अनस्युत करो। जो इससे अन्यथा करता है वह सार्थकता और कृतार्थता को नहीं पाता है।'

जीवन अपने आप में बिना उद्देश्य के जिया गया तो निरर्थक ही लगेगा। याद रखना,

पहले से रेडिमेड कोई अर्थ नहीं है। जीवन का रास्ता हाइवे जैसा नहीं है जहां सब पहले से तय है। कहां पहुंचना है, यह भी तय है, कहां मोड़ना है, कहां चौराहा आएगा, कहां रास्ता बदलना है सब तय है, जीवन ऐसा नहीं है। जीवन तो आकाश में उड़ने वाले पंछी के मार्ग जैसा है। पहले से कुछ भी तय नहीं है। पंछी उड़ेगा तो ही रास्ता बनता है और वह रास्ता कि कोई उसका अनुगमन नहीं कर सकता। बस बनेगा और मिट जाएगा। पानी पर खींची गई लकीर की तरह। वह लकीर तो फिर भी थोड़ी देर नजर आती है। आकाश में उड़ते पंछी के द्वारा जो रास्ता बनता है वह तो उतना भी नजर नहीं आता। बस ऐसा ही है जीवन। हम किसी के अनुयायी भी नहीं हो सकते, हम किसी के पीछे भी नहीं चल सकते। हमें स्वयं ही अपना रास्ता टटोलना होता है, खोजना होता है। हमें स्वयं ही उद्देश्य की भी तलाश करनी होती है और तब हमारी जीवन की सारी क्रियाएं एक माला जैसी पिरोयी जाती हैं और तब जीवन में निरर्थकता नहीं, सार्थकता उत्पन्न होती है।

तीसरा प्रश्न : ओशो साहित्य में ध्यान की चार सीढ़ियों की बात आती है, कृपया इसको समझाएं?

ध्यान की चार सीढ़ियां हैं। साक्षी भाव की सीढ़ियां हैं। ध्यान यानी साक्षी भाव, द्रष्टा भाव। दूर से ऐसे देखना जैसे किसी और के जीवन में कुछ हो रहा है और हम केवल उसके वाचर, उसके आब्जर्वर हैं। तो इसकी पहली सीढ़ी है अपनी शरीर की क्रियाओं के प्रति सजगता। उठना–बैठना, चलना–फिरना, भोजन करना, स्नान करना इत्यादि को ऐसे देखो जैसे कोई और कर रहा है और मैं उसको देखने वाला हूं, मैं उसका द्रष्टा हूं। जब इसमें सफलता हासिल हो जाए तब दूसरी सीढ़ी पर हम पहुंचते हैं और अपनी मानसिक गतिविधियों को दूर से देख पाते हैं। मन की क्रियाएं हैं सोचना, विचारना, याद करना, कल्पना करना, योजना बनाना ये मन की क्रियाएं हैं। धीरे–धीरे इनसे एक दूरी पैदा हो जाती है और ऐसा लगता है कि विचार कहीं और चल रहे हैं। जैसे मैं किसी फिल्म के परदे पर चल रही कहानी को देख रहा हूं। मैं दूर बैठा दर्शक हूं। मैं उस कहानी में इन्वाल्व नहीं हूं। तब हमें बहुत गहराई मिल जाती है द्रष्टा भाव की।

तीसरी सीढ़ी आती है अपने हृदय की भावनाओं की सजगता। यह बहुत सूक्ष्म मामला है, विचार से भी ज्यादा सूक्ष्म। विचार को पकड़ना आसान है, भावनाएं तो बिल्कुल ही अदृश्य सी है। वे अचानक आती हैं और हमें आच्छादित कर लेती हैं। अक्सर उनका तब पता चलता है जब वह चली गई होती हैं। क्रोध आता है, हमें पता ही नहीं चलता कि हम कब क्रोधित हो गए। जब क्रोध का बुखार उतर जाता है, तब हमें पता चलता है कि अरे! फिर हम पछताते हैं कि यह क्या हो गया? यह क्या कह गया, क्या कर गया? अगर हम सजग होना शुरू करेंगे शरीर के प्रति, मन के प्रति तब हम तीसरी सीढ़ी पर भी सफल हो जाएंगे भावनाओं के प्रति सजग हो जाएंगे और चौथी सीढ़ी अंतिम जहां न कोई शारीरिक क्रियाएं हैं, न कोई मानसिक गतिविधियां और न कोई भावनात्मक उहापोह। जहां साक्षी चैतन्य बस अपने ही प्रति जागा हुआ है। यह चौथी और अंतिम बात है।

स्वबोध, आत्म रमण की अवस्था उपलब्ध हो गई। अब कोई दृश्य नहीं है, द्रष्टा मात्र रह गया। अब उसको द्रष्टा भी कैसे कहो? द्रष्टा तो तब होता है जब सामने कोई दृश्य हो। ज्ञाता तो तब होता है जब कोई ज्ञेय हो। स्वयं का होना मात्र रह गया बस। न कोई दृश्य है, न कोई द्रष्टा। जे कृष्णमूर्ति जी उसके लिए कहा करते थे कि ज्ञाता और ज्ञेय एक हो गए हैं। अद्वैत की प्रतीति ही आत्म ज्ञान का अनुभव है। तो ये ध्यान की चार सीढ़ियां हैं।

चौथा प्रश्न : जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरिया इन चार अवस्थाओं के बारे में समझाने की कृपा करें?

ये चार अवस्थाएं नहीं हैं बल्कि में तीन अवस्थाएं हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। तुरिया का मतलब होता है– चौथा। हमारे संतों ने, ऋषियों ने उसको कोई नाम नहीं दिया है। ये चौथे की तीन अवस्थाएं हैं। वह चौथा चाहे तुम उसे आत्मा कह लो, परमात्मा कह लो, स्वयं का होना कह लो ये उसकी तीन अवस्थाएं हैं। कभी वह जागता है, जैसे हम दिनचर्या में, जागरण में कुछ काम–धाम करते हैं। कभी वह स्वप्न देखता है और कभी वह गहन सुषुप्ति में होता है जो वहां स्वप्न भी बंद हो जाता है। ये तीन उसकी अवस्थाएं हैं और वह चौथा है।

एक उदाहरण से समझ लें कि ट्रेन में कोई व्यक्ति यात्रा कर रहा है, पानीपत स्टेशन गुजरा, फिर ट्रेन आगे बढ़ गई और सोनीपत आ गया। फिर सोनीपत स्टेशन से गुजरकर ट्रेन और आगे बढ़ी और दिल्ली पहुंच गए। ये ट्रेन के स्टेशन्स हैं, जहां ट्रेन थोड़े देर रुकी, वह यात्री थोड़ी देर ठहरा। स्टेशन का मतलब होता है ठहराव, स्थानक। वह यात्री पूछे कि पानीपत, सोनीपत, दिल्ली, ग्वालियर, आगरा इनमें से मैं कौन हूं? इनमें से वह कोई भी नहीं है। वह तो इनसे बिल्कुल भिन्न है। वह तो दर्शक है, जो ट्रेन के भीतर बैठकर यात्रा कर रहा है। कभी वह इस स्टेशन से गुजरता है तो कभी दूसरे स्टेशन से। कभी थोड़ी देर यहां उसकी गाड़ी रुकती है तो कभी थोड़ी देर वहां गाड़ी रुकती है। फिर गोल घूमकर फिर वहीं आ जाता है। फिर जाग जाता है, फिर स्वप्न देखने लगता है, फिर सो जाता है, फिर जागरण घट जाता है, फिर नींद आ जाती है। तो ये अवस्थाएं उस चौथे की हैं। उस चौथे को क्या नाम दें? अच्छा है कोई नाम नहीं दिया ऋषियों ने। बस इतना ही कहा 'चौथा'। वह इन तीनों से भिन्न है, तीनों से पृथक है।

थोड़े दिन पहले एक सज्जन ने पूछा था कि उपनिषद के ऋषियों ने परमात्मा को 'पूर्ण' कह के पुकारा। भगवान बुद्ध ने बिल्कुल विपरीत शब्द 'शून्य' का इस्तेमाल किया। अगर सत्य एक है तो फिर ज्ञानियों के वक्तव्यों में इतना विरोधाभास क्यों है? मैंने उन्हें यह लतीफा सुनाया। मालिक बोला– आज तुम क्या कर रहे हो? नसरुद्दीन बोला– कुछ नहीं सर।

मालिक– अरे, कल भी तो तुम यही कर रहे थे न?

नसरुीन– हां सर, मगर मैं कल शाम तक इसे पूरा नह कर पाया था।

स्मरण रखना, नामों में मत उलझना। सत्य की अनुभूति में डूबना।

जय ओशो।

प्रवचन 16

आधुनिक युग में ध्यान की जरूरत

पहला प्रश्न : एक मित्र कहते हैं कि ईश्वर के संबंध में चर्चा करते हुए उनका अपने एक मित्र के साथ मतभेद हो गया। उनकी पत्नी का कहना है कि आपको दोस्ती से ज्यादा सिद्धांत को महत्व नहीं देना चाहिए था। क्या वह सही कहती हैं?

पत्नियां हमेशा ही सही कहती हैं। गलती हमेशा पति की ही होती है। इस मामले में तो कम-से-कम ऐसा ही है। स्त्रियां ज्यादा हार्दिक हैं, भावनात्मक हैं। पुरुष ज्यादा बौद्धिक हैं, वैचारिक हैं, मत-मतांतर में, दर्शनशास्त्र में उलझते हैं। स्त्रियों को कभी दर्शनशास्त्र में रुचि नहीं होती। सिद्धांत और मतों में उन्हें कोई लगाव नहीं होता। पुरुष मन के तल पर जीता है, जो कि उसके जीवन का सबसे ऊपरी हिस्सा है। महिलाएं ज्यादा गहराई में जीती हैं हृदय के तल पर। इसलिए जब भी कभी मतभेद हो, यह बात 99 परसेंट सही है कि स्त्रियां ही ज्यादा सही होंगी। यह मैं चुटकुले के रूप में नहीं कह रहा हूं, यही सच्चाई है। क्योंकि उनके भीतर से जो उत्तर आ रहा है, वह ज्यादा गहराई से आ रहा है। वह भावनात्मक है। विचार बिल्कुल ऊपर-ऊपर है। हमारे विचार सीखे-सिखाए हैं।

अगर समाज ने हमें न सिखाया होता, अध्ययन-मनन न किया होता, अगर स्कूल-कॉलेज इत्यादि शिक्षा प्रणाली न होती तो हमारे पास यह मन विकसित नहीं होता। प्रकृति ने हमें विचार नहीं दिए। भाव प्रकृति ने दिए हैं। भावनाएं हम लेकर ही आए हैं, वह ज्यादा नैसर्गिक हैं और ज्यादा गहराई में हैं। पशु-पंक्षी के पास भी भावनाएं हैं, यद्यपि विचार नहीं हैं। उनके पास कोई मत, सिद्धांत, फिलासफी इत्यादि नहीं है फिर भी जीवन इतना सुंदर तरीके से चल रहा है। पुरुषों ने विशेष कर सिद्धांत डेवलप किए। भांति-भांति के मत-मतांतर हो गए, बहुत बार विवाद छिड़ा। पिछले तीन हजार साल के ज्ञात इतिहास में पंद्रह हजार युद्ध लड़े गए। बहुत खून-खराबा हुआ इनके पीछे कारण क्या है? कारण है मत-मतांतर। मतभेत हो गए। एक देश के राजा का दूसरे देश के राजा से कुछ मतभेद हो

गया। एक देश के राजनेता ने दूसरे राजनेता के खिलाफ कुछ कह दिया क्योंकि उसके सिद्धांत अलग–अलग थे। एक पूंजीवादी हैं और दूसरा साम्यवादी हैं। दुनिया में सारे झगड़ों की जड़ हमेशा मत–मतांतर ही हैं। उसी से वाद–विवाद उत्पन्न होते हैं।

तो इनकी पत्नी का कहना ठीक है कि दोस्ती ज्यादा महत्वपूर्ण है। तुमने अपने सिद्धांत के कारण एक दोस्त को गवां दिया। दोस्त ज्यादा महत्वपूर्ण है सिद्धांत नहीं। भाड़ में जाए सिद्धांत, सिद्धांत को जाने दो। सिद्धांत से क्या लेना–देना? उस सिद्धांत की वजह से तुम्हें अपने जीवन में क्या सिद्धी हासिल हुई? एक मित्र को गवां दिया। सिद्ध तो कुछ भी नहीं हुआ। थोड़ा जागो, चौंको। जीवन में जो चीजें ज्यादा गहरी हैं, उनको महत्व देना शुरू करो।

जो चीजें उथली–उथली हैं, ऊपर की हैं, वे उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं। उदाहरण के लिए आप वस्त्र पहने हुए हैं, यह आपकी त्वचा से ज्यादा महत्वपूर्ण तो नहीं है। आपकी त्वचा के भीतर और मांसपेशियां हैं, हड्डियां हैं, वे और ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। उन हड्डियों के भीतर मज्जा है। जहां खून की फैक्ट्री लगी हुई है, खून बनता है, वह और भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। प्रकृति ने गहरी चीजों को भीतर छिपाया हुआ है और निरर्थक चीजों को ऊपर से लपेटा हुआ है। कपड़ों से ज्यादा मूल्यवान त्वचा है, त्वचा से मूल्यवान अस्थियां हैं। हम जितने भीतर जाएंगे उतने महत्वपूर्ण अंग मिलेंगे। हृदय, फेफड़े, लिवर और किडनी ये भीतर छुपे हुए हैं। प्रकृति ने महत्वपूर्ण को छुपाया है। आप अपने घर के भीतर अपने मूल्यवान वस्तु को, आभूषणों को, धन इत्यादि को कहां रखते हैं? बैठक खाने में, ड्राइंग रूम में जहां सब लोगों से मिलते हैं या बाहर बगीचे में, बरामदे में? नहीं, सबसे भीतर के कमरे में तिजोरी में छुपा कर रखा है।

ठीक ऐसे ही जो चीजें गहरी हैं वह महत्वपूर्ण हैं। विचार सबसे ऊपरी चीज है। भावना उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है। निश्चित रूप सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण कुछ और है, वह हमारी चेतना है, वहां प्रत्येक व्यक्ति को पहुंचना चाहिए। लेकिन अगर इन दोनों के बीच में तुलना है, सिद्धांत और दोस्ती के बीच में चुनना है तो दोस्ती ही चुनने जैसी है सिद्धांत नहीं।

दूसरा प्रश्न : मैं एक परम्परावादी क्रियाकाण्डी ब्राह्मण हूं। किंतु मेरा पुत्र पश्चिमी वैज्ञानिक शिक्षा के प्रभाव में पड कर नास्तिक हो गया है। इससे मेरा मन बहुत अशांत रहता है। कृपया बताएं मैं क्या करूं?

फिर वही बात आ गई मत–मतांतर की। पिता क्रियाकाण्डी परम्परावादी है और पुत्र आधुनिक शिक्षा के प्रभाव में प्रगतिशील और वैज्ञानिक बुद्धि का हो गया। यद्यपि दोनों ही बुद्धि के तल पर हैं। फिर भी बड़ा भेद हो गया बाप–बेटे में। जनरेशन गैप आज सारी दुनिया

की एक बड़ी समस्या बन गई है। पुरानी पीढ़ी के सोचने का ढंग अलग था, नई पीढ़ी के सोचने का ढंग अलग है। याद रखना यहां पर बौद्धिक और भावनात्मक भेद नहीं है, लेकिन बुद्धि–बुद्धि में ही बहुत खंड हो गए हैं। कुछ लोग रूढ़िवादी ढंग से सोच रहे हैं। वे सोचते हैं कि पहले जो हुआ वह सत्य था। और नई पीढ़ी सोचती है कि लेटेस्ट जो है, आधुनिक जो है, अभी–अभी जो खोजा गया है, वह है सत्य। दोनों की अपनी–अपनी जिद्द है। दोनों का अपना–अपना सिद्धांत है। एक मानता है प्राचीन में, दूसरा मानता है नवीन में। मैं आपसे तीसरी बात कहना चाहूंगा न प्राचीन, न नवीन बल्कि उस सनातन सत्य को खोजो जो न कभी नया होता और न कभी पुराना होता। निश्चित रूप से आपके पुत्र की दृष्टि में आप अवैज्ञानिक हैं और आपकी दृष्टि में आपका पुत्र विद्रोही लगेगा। परंपरा के खिलाफ जा रहा है, रूढ़ियों को तोड़ रहा है। ऐसा होना बिल्कुल स्वभाविक है। उसको शिक्षा दिलाई किसने? आपने ही तो दिलाई। अगर आपको उसको परंपरावादी, रूढ़िवादी, क्रियाकाण्डी बनाना था तो उसको स्कूल–कॉलेज नहीं भेजना था। तब वह भी आपकी तरह क्रियाकाण्डी बना रह जाता। नहीं, जीवन में विकास हो रहा है और बुद्धि के तल पर भी बहुत विकास हो रहा है और विशेषकर पिछले दो सौ, डेढ़ सौ सालों में विज्ञान ने तो चमत्कार कर दिया है। अब पुराने क्रियाकाण्ड और पुराने सिद्धांत सब फीके पड़ गए हैं।

विज्ञान ने वह चमत्कार करके दिखा दिया है, जिस स्वर्ग की कल्पना शास्त्रों में लिखी है उससे ज्यादा बेहतर स्वर्ग यहीं बना कर दिखा दिया। तो निश्चित रूप से आने वाली हर पीढ़ी विज्ञान के पक्ष में होगी। पुराने क्रियाकाण्डों के पक्ष में नहीं होगी। आपका पुत्र ठीक दिशा में जा रहा है। अब भूल–चूक कहां हो रही है? आप हठ कर रहे हैं कि वह भी आपके तरीके से सोचे, आपके ढंग से विचार करे। यह तो संभव नहीं है। आपका मत और उसका मत बिल्कुल अलग–अलग हो गए। ऐसा होना बिल्कुल स्वभाविक है। और याद रखना, जब तीसरी और चौथी पीढ़ी आएगी तो वे और भी आगे होंगे। वे और भी ज्यादा प्रोग्रेसिव होंगे। उनकी दृष्टि में आपका बेटा भी पुराण–पंथी हो जाएगा। हर पीढ़ी को तैयार रहना चाहिए कि मेरी संतान मुझसे आगे निकले। और इसमें अशांत होने की जरूरत नहीं, प्रसन्न होने की जरूरत है। तुम्हारा पुत्र तुमसे आगे जाए यह तो हर पिता की चाहत होनी चाहिए। वह क्यों तुम तक रुके? एक सतत विकास प्रकृति में हो रहा है।

डार्विन का विकासवाद का सिद्धांत आपने सुना होगा 'थ्योरी ऑफ इवोल्यूशन' हर नई पीढ़ी ज्यादा इंटेलिजेंट, ज्यादा विकसित होगी। लेकिन पुरानी पीढ़ी की जिद्द कि हमारी ही तरह तुम भी रहो। जैसा हम करते थे वही तुम करो। जो हम मानते थे वही तुम मानो। ऐसा तो आगे नहीं चलेगा। तो पिता को अपनी जिद्द छोड़नी चाहिए और पुत्र की दृष्टि से चीजों को देखने का प्रयास करना चाहिए। उसको पीछे मत खींचो। अब तुम आगे बढ़ने का

प्रयास करो। चलो उसके साथ कदम मिलाकर न चल सको तो कोई बात नहीं, कम-से-कम थोड़ा तो उसके जैसे होओ। अपने क्रियाकाण्डों के जगत से बाहर निकलो। मुझे याद आता है 'पथ के प्रदीप' नामक पुस्तक में सद्गुरु ओशो का एक पत्र संकलित है, जिसमें उन्होंने मत और सत्य के संबंध में बहुत सुंदर संदेश दिया है। मैं आपको वह पढ़ कर सुनाना चाहता हूं-

'सत्य को चाहते हो तो चित्त को किसी मत से मत बांधो। जहां मत है, वहां सत्य नहीं आता। मत और सत्य में विरोध है। सत्य की खोज के लिए मुक्त जिज्ञासा पहली सीढ़ी है और जो व्यक्ति स्व-अनुभूति के पूर्व ही किन्हीं सिद्धांतों और मतों से अपने चित्त को बोझिल कर लेता है, उसकी जिज्ञासा कुंठित और अवरूद्ध हो जाती है।

जिज्ञासा खोज की गति और प्राण है। जिज्ञासा के माध्यम से ही विवेक जाग्रत होता और चेतना ऊर्ध्वगामी होती है। लेकिन जिज्ञासा आस्था से नहीं, संदेह से पैदा होती है। और इसलिए मैं आस्था को नहीं, संदेह को सत्य पथ के राही का पाथेय मानता हूं। संदेह स्वस्थ चिंतन का लक्षण है और उसके सम्यक अनुगमन से ही सत्य के ऊपर पड़े पर्दे क्रमशः गिरते जाते हैं और एक क्षण सत्य का दर्शन होता है।

यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आस्तिक और नास्तिक दोनों ही आस्थावान होते हैं। आस्था विधायक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार की हो सकती है। संदेह चित्त की एक तीसरी ही अवस्था है। वह अविश्वास नहीं है, और न ही विश्वास है। वह तो दोनों से मुक्त खोज के लिए स्वतंत्रता है और सत्य की खोज वे कैसे कर सकते हैं, जो कि पूर्व से ही किंहीं मतों से आबद्ध हैं। मतों के खूंटों से विश्वास या अविश्वास की जंजीरों को जो खोल देता है उसकी नाव ही केवल सत्य के सागर में यात्रा करने में समर्थ हो पाती है।

सत्य के आगमन की शर्त है चित्त की पूर्ण स्वतंत्रता। जिसका चित्त किन्हीं सिद्धांतों में परतंत्र है वह सत्य के सूर्य के दर्शन से वंचित रह जाता है।'

यह पिता और पुत्र की कहानी में यह बात साफ नजर आती है कि एक का विश्वास प्राचीन में है, एक का विश्वास नवीन में है। एक आस्तिक, एक नास्तिक। एक क्रियाकाण्डी, एक क्रियाकाण्डी का विरोधी। लेकिन याद रखना- दोनों हीं स्वतंत्र नहीं हैं। सद्गुरु ओशो एक तीसरे बिंदु की ओर इशारा कर रहे हैं। मुक्त जिज्ञासा, सत्य की खोज। निश्चित रूप से अवैज्ञानिक होने के बजाय वैज्ञानिक होना श्रेष्ठ। किंतु वैज्ञानिक होने से भी और श्रेष्ठ है-

सब प्रकार की मतों के कारागृह से मुक्ति। न विश्वास करना, न अविश्वास करना। न ईश्वर को मानना और न ईश्वर को नहीं मानना। आधुनिक जगत में हम जिन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला कहते हैं वे नास्तिकता को मानते हैं। याद रखना वे भी अंधविश्वासी हैं। आस्तिक ने भगवान को जाना नहीं और वह मानता है इसलिए वह अंधविश्वासी। और जो नास्तिक हैं उसने भी नहीं जाना है, उसने भी जीवन के परम सत्य की खोज नहीं की है और उसने इंकार कर दिया कि ऐसा कुछ भी नहीं है। बिना खोजे उसने भी मान लिया कि वह भी अंधविश्वासी है।

तो मेरी दृष्टि में जो पिता और पुत्र के बीच में जो जनरेशन गैप खड़ा हुआ है, अगर इसमें चुनना ही है तो मैं पुत्र को चुनूंगा। लेकिन यह जो मैं कह रहा हूं, यह फाइनल नहीं है, इसके भी पार जाना है। आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षित व्यक्ति भी नए प्रकार के अंधविश्वासों से भर गया है यानि अंधविश्वास बदल गए। लेकिन अंधविश्वास अभी भी जारी है। अभी भी आंख खोलकर देखने के लिए तैयारी नहीं है। हो सकता है कि वह वैज्ञानिक हो। बाहर के जगत में वह अनुसंधान करता हो, खोजबीन करता हो; लेकिन भीतर के जगत में उसने कुछ नहीं खोजा। तो इसलिए मैं कहता हूं कि मैं उसके पक्ष में हूं। कम–से–कम बाहर के जगत में तो संदेह उत्पन्न हुए, प्रश्न उत्पन्न हुए, स्वयं ही खोजबीन की उत्सुकता उत्पन्न हुई। बहुत अच्छा। यही उत्सुकता अब भीतर भी लगना चाहिए। जैसे बाहर के जगत में विज्ञान, ठीक वैसे ही भीतर के जगत में ध्यान। वह आत्मा का विज्ञान है।

तीसरा प्रश्न : आधुनिक युग में अब ध्यान करना कितना जरूरी है?

आधुनिक युग में पुराने युग से ज्यादा जरूरी है। क्योंकि चित्त आज जितना अशांत और बेचैन है, उतना पहले कभी नहीं था। हमारी शिक्षा प्रणाली ने हमें बड़ी ऊंची–ऊंची महत्वकांक्षाएं पकड़ा दिए हैं। छोटे–छोटे बच्चे आसमान के सितारे तोड़ना चाह रहे हैं। कलेक्टर, कमिश्नर से कम तो किसी को बनना ही नहीं है। कोई बड़ा खिलाड़ी बनने का सपना देख रहा है, कोई प्रसिद्ध अभिनेता–अभिनेत्री बनने के प्रयास में हैं। किसी को प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति बनना है। पुराने जमाने में महत्वकांक्षाएं भी छोटी–छोटी थीं। सुविधा ही नहीं थी, संभव ही नहीं था। आज प्रजातंत्र युग में यह संभव हुआ है कि व्यक्ति बहुत कुछ कर सकता है। लेकिन इस बहुत कुछ करने के साथ–साथ वह दिग्भ्रमित हो गया है कि वह यह करे कि वह करे, यहां जाएं कि वहां जाएं। यह बने कि वह बने।

मैं अक्सर देखता हूं हाई स्कूल के बच्चे प्लस वन या प्लस टू में जब आते हैं तो बहुत ही टेंशन और तनाव से भर जाते हैं। किस दिशा में जाना है, आगे क्या पढ़ाई करनी है यही तय

नहीं हो पाता। पिता जी कुछ कह रहे हैं, चाचा कुछ कह रहे हैं, मां कुछ और चाहती हैं, बहन कुछ और कह रही हैं, बड़ा भाई कुछ और कह रहा है और भीतर उसको कंफ्यूजन है कि क्या करूं, क्या न करूं। ऐसा होना ठीक होगा, वैसा होना ठीक होगा। फिर बड़ा होकर भी इसी प्रकार की दुविधा चलती रहेगी। इसलिए आधुनिक युग में व्यक्ति जितना दुविधापूर्ण हुआ है, इतना दुविधापूर्ण कभी नहीं था। निश्चित रूप से तनाव और अशांति बढ़ गयी है। तनाव हमेशा उन दो बिंदुओं के बीच में पैदा होता है 'जहां मैं हूं' और 'जहां मैं होना चाहता हूं' ये दो बिंदु जितने दूर होंगे उतना ही खिंचाव और तनाव होगा।

आधुनिक व्यक्ति बहुत गहरे टेंशन में है। उसका कारण? उसका लक्ष्य जो उसने निर्धारित किया है, बड़ी दूर का है। एक छोटे से गांव में वह रह रहा है, वह एक गरीब बाप का बेटा है और दूर के सपने देखने लगा है। पुराने जमाने में इतने दूर के सपने नहीं देखते थे। उसकी ईर्ष्या ज्यादा–से–ज्यादा पड़ोसी से थी। मेरे पास बैलगाड़ी है तो उसके पास घोड़ागाड़ी है। वह इतना ही सोचता था कि काश मेरे पास भी घोड़ागाड़ी हो जाए। बग्घी खरीद लूं तो बस मजा करूंगा। आज आकांक्षाएं बहुत बढ़ गईं हैं। बैलगाड़ी है और सपने देख रहा है हवाई जहाज के पायलेट बनने के, महंगी–से–महंगी कार खरीदने के। विज्ञापन की दुनिया में हर चीज को सार्वजनिक, सार्वभौम कर दिया है। हर व्यक्ति के भीतर महत्वकांक्षा जाग गई है।

तो एक तरफ शिक्षा प्रणाली, एक तरफ पूंजीवाद और प्रजातांत्रिक, समाज और राज्य की व्यवस्था और तीसरी तरफ विज्ञापनदाता। हर व्यक्ति के भीतर इच्छा के बीज बो रहे हैं। हजारों इच्छाएं, हजारों ख्वाहिशें उत्पन्न हो गईं। इसमें से सब तो पूरी होनी संभव नहीं, एक–एक भी बहुत मुश्किल है। तो व्यक्ति बड़ी कंफ्यूजन में है और बड़े तनाव में है। परिवार व्यवस्था, पड़ोसी, अफसर, कर्मचारी, सब इस मुसीबत को बढ़ाने में योगदान दे रहे हैं।

मैंने सुना है कि प्रतिदिन चीख–चीखकर लड़ने वाले दम्पति के नये पडोसी, टीवी संवाददाता ने आकर विनम्रतापूर्वक पूछा– सर, आपने शादी क्यूं की?

नसरुद्दीन– बस, ऐसे ही; मस्ती के लिए!

पडोसी– और आपने मैडम क्यूं की?

बेगम गुलजान– बस, ऐसे ही; इन हजरत की मस्ती उतारने के लिए!

मस्ती उतारने वालों ने मजबूत इंतजाम किये हैं। सब तरफ से पहरा बिठाया है। इसलिए तनाव मुक्ति का जो उपाय है– ध्यान– वह पहले से भी ज्यादा महत्वपूर्ण आज के युग में हो गया है। बहुत विलंब हुई। अब देर न करो।

ध्यानम् शरणं गच्छामि। ओशो शरणम् गच्छामि।।

प्रवचन 17

वृद्धावस्था में मृत्यु का डर

पहला प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि मुझे बुढ़ापे में मृत्यु भय सताने लगा है। मैं क्या करूं?

जीवन तो क्षुद्र बातों में उलझा चला जाता है, हजार प्रकार की व्यस्तताएं रहती हैं। शुरुआत के पचीस-तीस साल तो बस शिक्षा में निकल जाते हैं, खेल-कूद में निकल जाते हैं। फिर शादी, घर-गृहस्थी, धन कमाना, आजीविका अर्जित करना, धन, पद की दौड़, कोई राजनीति में उलझ जाता है, कोई ज्ञान प्राप्ति में, कोई यश प्राप्ति में। भांति-भांति की महत्वकांक्षाएं हैं। वृद्ध अवस्था आते-आते आदमी चौंकता है, जागता है कि अभी तक मैंने जो किया वह सब क्षणभंगुर ही रहा। कुछ खास बात हाथ में नहीं आई। ऐसा लगता है, जीवन निरर्थक ही गया और मृत्यु बोध प्रगाढ़ होने लगता है। अब सामने देखने को कुछ और बचता ही नहीं। जवान व्यक्ति के पास देखने को बहुत कुछ था। बच्चों के पास बड़े सपने थे। दूर के सितारे तोड़ने थे। वृद्ध अवस्था आने पर शरीर जर्जर हो गया। अब मौत के अलावा और कुछ सामने दिखाई नहीं देता, अब तो कोई सपने तुम पाल नहीं सकते। अच्छा है इसका सदुपयोग करो।

प्रकृति ने जो व्यवस्था बनाई है जीवन की, वृद्ध अवस्था की वह भी उपयोगी है। आंखें कमजोर होने लगीं, बाहर देख नहीं पातीं अब भीतर देखने का स्मरण करो। कान खराब हो गए, बहरे हो गए सुनाई नहीं पड़ता अब समय आया भीतर की कब सुनोगे? तुम्हारे भीतर ओंकार गूंज़ रहा है, वह सुनना है कि नहीं? कि बाहर के लोगों का कोलाहल ही सुनते रहोगे? इंद्रियां धीरे-धीरे जवाब देने लगीं। अब हाथ-पैर नहीं चलते, काम-धाम करते नहीं बनता अपने भीतर की निष्क्रिय सजगता को कब जानोगे? यह सुअवसर है।

बुद्धिमान व्यक्ति हर परिस्थिति का उपयोग कर लेता है और बुद्धिहीन व्यक्ति हर परिस्थिति का दुरुपयोग कर लेता है। वृद्ध अवस्था भी बुरी नहीं है। यह लाचारी, यह कमजोरी, इंद्रियों का शिथिल हो जाना, यह मृत्यु का भय लगना यह एक जगाने वाला तत्व हो सकता है। चौंको, जागो। अभी तक तुमने जो पाया है वह सब छिन जाएगा साथ में कुछ भी न जा सकेगा। एक छोटी सी यात्रा पर तुम जाते हो तो कितनी तैयारी करते हो? हफ्ते भर के लिए कहीं जाना है, तो हफ्ता भर पहले से सूटकेस सजने लगता है। योजना बनाने

लगते हो यहां जाना है, यह करना है, वो करना है, क्या–क्या सामान रखना है। वापस लौटने में क्या–क्या जरूरत पड़ेगी? एक महायात्रा पर जाना है, मृत्यु के उपरांत परम जीवन की यात्रा पर उसकी कोई तैयार नहीं करोगे। पूछते हो वृद्धावस्था में क्या करूं? अब तैयारी करो। यह साधना का काल है।

पुराने जमाने में हिंदू संस्कृति में चार अवस्थाओं को ठीक ढंग से बांटा गया था। बुढ़ापे की जो अवस्था थी वह साधना के लिए थी। अब संन्यासी हो जाओ। पूछते हो क्या करूं? अब संन्यासी बनो। संसारी का जीवन तुमने जीकर देख लिया अब मृत्यु के पार की कुछ तैयारी करो। सच पूछो तो मेरी दृष्टि में दो प्रकार के स्कूलिंग सिस्टम होने चाहिए। पहला जो हम बच्चों को सिखाते हैं। उसमें हम आजीविका कमाने के साधन बस उसकी कला सिखा रहे हैं और तो कुछ नहीं। कैसे धन कमाएं, कैसे जीवन की व्यवस्था करें? ठीक है फिर जीवन की व्यवस्था हो गई, फिर रिटायरमेंट हो गए। इसके बाद की कोई भी शिक्षा किसी ने दी नहीं। फिर से एक स्कूल होना चाहिए। ऑफ्टर रिटायरमेंट. अब जीवन की व्यस्तताओं से छुटकारा मिला। अब एक नई चींज सीखो, ध्यान की कला सीखो। अब उस पार जाने की तैयारी करो।

एक आदमी करीब–करीब पचीस–तीस साल लगा देता है जीवन की तैयारी के लिए। तब विश्वविद्यालय से डिग्री लेकर बाहर निकलता है और बा–मुश्किल वह कुल तीस साल काम करता है। साठ साल की उम्र में तो रिटायर हो जाता है। तो तीस साल काम करने के लिए हमने उसको तीस साल तैयार किया। बहुत बड़ा इन्वेस्टमेंट किया और मृत्यु के बाद तो लंबा समय है। सैकड़ों–सैकड़ों साल का भी हो सकता है अगला जन्म मिलने के पहले। इसकी कोई तैयारी नहीं होगी। चलो अब वृद्ध अवस्था का सदुपयोग करो। तो बजाय भयभीत होने के इसे एक चुनौती की तरह लो कि अब मैं इसकी तैयारी करता हूं, मृत्यु को मैं जानूंगा वह क्या है? और इसके पहले कि मृत्यु आए मैं प्रिप्रेशन करता हूं ताकि मैं उसे जान सकूं। उसकी तैयारी का नाम है– ध्यान है, आध्यात्मिक साधना है।

दूसरा प्रश्न : मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि जीवन की अधिकांश समस्याओं की जड़ें असुरक्षा और भय में छिपी हैं। इस पर विजय हासिल करने का मानोविज्ञान के पास तो कोई तरीका नहीं है। क्या धर्म के पास कोई उपाय है?

मनोवैज्ञानिक समस्या के विस्तार में तो जा सकते हैं कि यह समस्या क्यों है? लेकिन उसका समाधान क्या होगा इसका कोई जवाब उनके पास नहीं है। भय क्यों लगता है? असुरक्षा की अनुभूति क्यों होती है? निश्चित रूप से मनोविज्ञान बहुत विस्तार से इस बात को समझा सकते हैं। लेकिन इसका हल क्या है? वह जो मनोरोगी उनके पास आया है जिसको फोबिया की बीमारी हो गई है, उसकी तो वह एनालिसिस करके बताते हैं। इसको डर क्यों लगता है? इसको असुरक्षा क्यों होती है? मनोवैज्ञानिक अपने भीतर तो जरा टटोलें। क्या वह सुरक्षित है, क्या उसे भय नहीं लगता। उसे भी भय लगता है।

मुझे स्मरण आता है एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुंग के बारे में। उनके मन में बड़ी इच्छा थी कि इजिप्त जाकर वहां की पिरामिड देखें। ममी देखने की इच्छा थी। कई बार प्लेन की टिकट बुक कराई कि जाना है। कुछ मित्र संग-साथ उनके जाने को तैयार थे। वह भी मनोवैज्ञानिक ही थे। लेकिन हर बार ऐसा होता था कि फ्लाइट पकड़ने के दो-चार घंटे पहले या यात्रा के एक दिन पहले ही कुछ बीमारी आ जाती है या कुछ कारण हो जाता है और टिकट रद्द करनी पड़ती। जब ऐसा चार-पांच बार हो गया तब जुंग ने सोचा महान विचारक था। उसने सोचा कि बार-बार ऐसा संयोग कैसे हो जाता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे भीतर भय है? ममी को देखना यानी मौत का साक्षात्कार। चार-पांच साल पहले कोई मरा था, उसकी पुरानी लाश प्रिजर्व करके रखी गई है, उसे ममी कहते हैं। कार्ल गुस्ताव जुंग ने स्वीकार किया कि मेरे भीतर मृत्यु का भय है। देखने की इच्छा भी है कि पिरामिड जाकर देखूं और डर भी मौजूद है। कहीं भीतर कुछ कंपन्न है। कई बार ऐसा हुआ है कि मौत की चर्चा करते हुए कार्ल गुस्ताव जुंग को अचानक हिस्टीरिया का फेट आ गया। वह स्वयं ही बेहोश होकर गिर गया। समस्या का हल तो उनके पास नहीं है। समस्या का वर्णन बड़े तार्किक ढंग से कर सकते हैं। उनके वर्णन को पढ़कर कोई बड़ा प्रभावित हो सकता है। लेकिन उसका समाधान तो नहीं है।

अध्यात्म के पास समाधान है, और वह समाधान क्या है? अध्यात्म मानता है कि हमारा जो तन है, हमारी जो परिधि है बाहर की, वह क्षणभंगुर है, वह मृत्यु के घेरे में है। लेकिन उसके भीतर जो निवास कर रही है चेतना, वह अमृत स्वरूप है। तो ध्यान में और समाधि में डूबकर अपने उस अविनाशी तत्व को, अपनी अमृत चेतना को पहचानो और तब मृत्यु का भय सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाता है। 'पथ के प्रदीप' नामक पुस्तक में सद्गुरु ओशो ने साधक-साधिकाओं को बहुत खूबसूरत पत्र लिखे हैं। उनमें से एक पत्र आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा जिसमें इस प्रश्न का जवाब भी मिल जाएगा।

'स्वयं के भीतर जो है, उसे जानने से ही जीवन मिलता है। जो उसे नहीं मिलता वह प्रति क्षण मृत्यु से और मृत्यु के भय से ही कंपित रहता है, घिरा रहता है। एक साधु को उसके मित्रों ने पूछा- यदि दुष्टजन आप पर हमला कर दें, तो आप क्या करोगे? वह साधु बोला- मैं अपने मजबूत किले में जाकर बैठ जाऊंगा। यह बात उसके शत्रुओं के कान तक पहुंच गई। फिर एक दिन शत्रुओं ने उसे एकांत में घेर लिया और कहा कि महानुभाव, बताइए तो जरा वह मजबूत किला कहां है? वह साधु खूब हंसने लगा और फिर अपने हृदय पर हाथ रख कर बोला- यहां है मेरा किला, यही है मेरा किला। इसके ऊपर कभी कोई हमला नहीं कर सकता है। शरीर तो नष्ट किया जा सकता है, पर जो भीतर मौजूद है वह नहीं। वही मेरा किला है। उस मार्ग को जानना ही मेरी वास्तविक सुरक्षा है।'

जो व्यक्ति इस मजबूत किले को नहीं जानता है, उसका पूरा जीवन असुरक्षित है। जो इस किले को नहीं जानता है उसका जीवन प्रति क्षण शत्रुओं से घिरा हुआ है। ऐसा व्यक्ति

को अभी शांति और सुरक्षा के लिए कोई शरण स्थल नहीं मिला है। और जो इस स्थल को बाहर खोजते हैं वे व्यर्थ ही खोजते हैं क्योंकि वह स्थल तो भीतर है। इस बात को पुनः दोहराना चाहूंगा। जो उस शरण स्थल को बाहर खोजते हैं, वे व्यर्थ ही खोजते हैं; क्योंकि वह स्थल तो भीतर है। जीवन का वास्तविक परिचय स्वयं में प्रतिष्ठित होकर ही मिलता है। क्योंकि उस बिंदु के बाहर जो परिधि है, वह मृत्यु से निर्मित है।

तो हमारी देह जन्मी है, हमारी देह मिटेगी भी। यह मन भी बना है, यह विसर्जित भी होगा। तो तन, मन का यह जो साइकोसोमेटिक कॉम्प्लेक्स है, यह तो एक संयोग मात्र है। यह संयोग बिखरेगा। मूल तत्व अपने-अपने तत्वों में वापिस लौट जाएंगे। लेकिन इनके भीतर जो चेतना छिपी है– कांशियसनेस, उसका न जन्म हुआ है और न मृत्यु हो सकती है। तो धर्म के पास उपाय है, क्योंकि धर्म उस कांशियसनेस को स्वीकारता है। उसकी खोज का उपाय करता है। ध्यान और समाधि उसी की विधियां हैं, पद्धतियां हैं। मनोविज्ञान अभी तक आत्मा को नहीं खोज पाया। आत्मा की स्वीकृति भी उनके मन में नहीं है। वे बस मन तक ही अटके हुए हैं। इसलिए तो उसका नाम मनोविज्ञान पड़ गया, साइकोलॉजी। अध्यात्म चेतना का विज्ञान है। साइंस आफ द सोल. दोनों में बड़ा फर्क है। जैसे मेडिकल साइंस है, वह देह से संबंधित है, फिजिकल बॉडी से संबंधित। साइकोलॉजी है वह मन से संबंधित है, विचार और भावनाओं से संबंधित है। ध्यान और अध्यात्म चेतना से संबंधित हैं।

न तो देह के तल पर कोई चीज शाश्वत हो सकती और न मन के तल पर कुछ शाश्वत हो सकता है। वहां तो भय कंपाता ही रहेगा, डराता ही रहेगा। जो शाश्वत है हमारी चेतना उसको जानने से भय समाप्त होता है और वही असली समाधान है। इसलिए चेतना में डुबकी को समाधि कहा जाता है।

तीसरा प्रश्न : ओशो का वक्तव्य है कि मनुष्य एक सात मंजिला मकान है, कृपया इसको समझाएं?

अभी-अभी हम मन की बात कर रहे थे। मन के सात खंड किए जा सकते हैं। सामान्यतः हम जिसको मन कह रहे हैं, जो दिनचर्या में, दिन के जागरण के समय में फंक्शन करता है उसका नाम है चेतन मन, कांशियस माइंड। हम इसी तल पर जी रहे हैं। इस सात मंजिल में से यह चौथे नंबर पर है, बीच में है। इसके नीचे तीन परतें और हैं। इस चेतन मन के नीचे हैं जो अवचेतन इंडिविजुअल सबकांशियस माइंड. हमारा नीजी अवचेतन। रात जो हम सपने देखते हैं। उसमें से नब्बे प्रतिशत सपने इसी नीजी अवचेतन में घटित होते हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति का इंडिविजुअल है। इसलिए हमारे सपने भी बड़े नीजी होते हैं। आप अपने सपने में किसी को आमंत्रित नहीं कर सकते हैं कि बहुत अच्छा सपना देख रहा हूं, आ जाओ तुम भी देख लो। इसके नीचे फिर एक लेयर और है, इसको कहें कलेक्टिव सबकांशियस. सामूहिक अवचेतन। यह एक-एक मनुष्य का नहीं, यह पूरी मनुष्य जाति का है।

तो कुछ दो-चार प्रतिशत सपने ऐसे भी होते हैं जो कलेक्टिव सबकांशियसनेस से आते हैं। जिन लोगों को कभी लगता है कि वह कोई ऐसा सपना देख लेते हैं जो बाद में

साकार हो जाता है, सच साबित होता है। वह उस गहरी पर्त से आया होता है। विराट अवचेतन में वह घटना कहीं-न-कहीं घट ही चुकी है। उसकी कोई झलक हमें सपने में मिल जाती है। इसके नीचे और एक पर्त है बहुत गहरी पर्त, उसको हम कहें कॉस्मिक सबकांशियसनेस. ब्रह्म अचेतन। यह मनुष्य जाति का नहीं, यह पूरे विश्व का, पूरे ब्रह्माण्ड का ही अवचेतन है। इसमें व्यक्ति कहीं बचा ही नहीं। पूरे जगत के साथ वह एक है। यहां से भी कुछ तरंगे ऊपर आतीं हैं और हमारे सपने को प्रभावित कर जातीं हैं।

जिस प्रकार नीचे तीन परतें हैं, ठीक इसी प्रकार ऊपर भी तीन परतें हैं। चेतन के ऊपर सबसे ऊपर जो पर्त है, वह है हमारा इंडिविजुअल सुपर कांशियसनेस. नीजी महा चेतन। या कोई नया नाम रखना होगा, मनोवैज्ञानिक ने तो इसका नामकरण नहीं किया। मनोवैज्ञानिकों केवल नीचे की खोज की है। भूमि के नीचे जड़ें कहां फैली उसकी खोज-बीन किए हैं। यह वृक्ष ऊपर कहां गया है उसकी खोज नहीं की। वह अध्यात्म का हिस्सा है। तो हमारा नीजी महा चेतन या अति चेतन कह लें। इंडिविजुअल सुपर कांशियसनेस. ध्यान में यह घटित होता है। फिर इसके और ऊपर है समाधि की अवस्था। कलेक्टिव सुपर कांशियसनेस. अब हम व्यक्ति से मुक्त हुए। वह जो अहं भाव था, अस्मिता थी कि 'मैं हूं' वह समाप्त हुआ। हम विराट के संग एक हुए। वह पूरी मनुष्य जाति का एक है। और फिर उससे भी ऊपर है कास्मिक सुपर कांशियसनेस. उसमें जाकर संबोधि घटित हो जाती है। व्यक्ति परम ज्ञान को, बुद्धत्व को उपलब्ध हो जाता है। जिन ऋषियों ने 'अहम् ब्रह्मास्मि' की घोषणा की उन्होंने ब्रह्म चेतन में जाकर घोषणा की। उन्हें पता चला कि मैं ही ब्रह्म स्वरूप हूं। याद रखना 'मैं' शब्द केवल भाषा में व्याकरण की अशुद्धि न हो जाए इसलिए कह रहे हैं। वास्तव में तो उन्हें पता चला कि ब्रह्म ही है। लेकिन इसको कैसे कहें? कहना पड़ता है 'मैं ब्रह्म हूं' इसमें 'मैं' का भाव बिल्कुल नहीं है। बस ब्रह्म ही है।

मनोविज्ञान ने गहराई में खोज की है। वे सबकांशियसनैस में, क्लैक्टिव कांशियसनैस में पहुंच गए। विशेषकर मैंने अभी नाम लिया कार्ल गुस्ताव जुंग, उनके पहले सिग्मंड फ्रायड हुए और इनके बाद भी बहुत सारे वैज्ञानिक कॉस्मिक सबकांशियस तक पहुंच गए। बड़ी गहरी खोज-बीन है उनकी, बड़े काम की है, उपयोगी है। लेकिन याद रखना समस्याएं वहां हल नहीं होतीं। समस्याओं का तो पता चलता है, समाधान का पता नहीं चलता। समाधान तो समाधि में मिलेगा। तो ऊपर की परतों में पहले ध्यान, फिर समाधि और फिर निर्वाण। मैंने सुना है कि एक समाज सेवक बेहोश भिखारी को लेकर अस्पताल लेकर आए। डॉक्टर ने जांच-पड़ताल में कोई खराबी न पाकर पूछा- आखिर यह बेहोश कैसे हुआ? समाज सेवक ने बताया कि जब मैं वहां से गुजर रहा था, तब यह भला-चंगा नजर आ रहा था। तभी एक मारवाड़ी सेठ को देखकर यह भिखारी बोलाः- सिर्फ पांच रुपए का सवाल है बाबा! सेठ ने कहाः- चलो, कोई बात नहीं बेटा; पूछो, पूछो। शायद मुझे उस सवाल का जवाब आता हो।.... सब प्रश्न और उत्तर ऐसे ही हैं। जागो, चेतो, और समाधि में समाधान को पाओ।

जय ओशो।

प्रवचन 18

ओशो के गुरु कौन?

पहला प्रश्न : कहा जाता है कि 'गुरु बिन होय न ज्ञान' अतः मन में जिज्ञासा उठी है कि ओशो के गुरु कौन थे? कभी सुना नहीं।

महत्वपूर्ण सवाल है। यह बात 99.9 प्रतिशत सही है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता है। शिष्य बनकर ही कोई सही मायने में साधक बन पाता है और साधक बनकर ही सिद्ध हो पाता है, परम सत्य को जान पाता है।

अतः सद्‌गुरु का बहुत महत्व है। लेकिन इस नियम के अपवाद भी होते हैं। चलो बहुत कम ही सही लेकिन इसके अपवाद भी होते हैं। इस बात को थोड़ा समझना। सीखने का एक उपाय है– जीवन के द्वारा सीखना, जीवन की घटनाओं से सीखना। जो अत्यंत विवेकवान है, जो बहुत संवेदनशील और जागरूक लोग हैं, वे जीवन में ही जाग जाते हैं। जीवन ही उन्हें जगा देता है। दूसरे प्रकार के लोग हैं थोड़े कम संवेदनशील, थोड़े कम सजग, उन्हें मृत्यु जगा देती है। मृत्यु झकझोर देती है। तीसरे प्रकार के लोग और भी कम सजग हैं, और भी कम संवेदनशील हैं; उन्हें सद्‌गुरु की जरूरत पड़ती है। कोई अब उन्हें हिलाए–डुलाए तो ही उनकी नींद टूट पाएगी, वे स्वयं अपने आप न जाग पाएंगे।

तो प्रथम कोटि के वे लोग हैं जो जीवन को देखकर जाग जाते हैं। द्वितीय कोटि के वे लोग हैं, मृत्यु जिन्हें जगा देती है, क्योंकि जीवन तो उलझाने वाला है। जीवन तो हमें व्यस्त कर देता है। भूल–चूक संभावना हो जाती है। हम जीवन में इतने खो सकते हैं कि हमें आत्म स्मरण ही न आए। लेकिन मौत झकझोरती है, मौत बताती है कि जीवन क्षणभंगुर है और तब व्यक्ति जागता है, चौंकता है। लेकिन तीसरे लोग हैं, जो जीवन और मृत्यु दोनों से नहीं जाग पाते हैं, उन्हें फिर सद्‌गुरु जगाता है। फिर चौथी कैटेगरी है, जो जागते ही नहीं। वे इतने अचेत हैं, इतने मूर्छित हैं कि सद्‌गुरु के जगाने से भी नहीं जागते। उनको तो फिर कोई अन्य जगा ही नहीं सकता।

तो मुख्य रूप से तीन ही कैटेगरी हुई जागने वालों की, जिन्होंने सिद्ध अवस्था को

पाया, जिन्होंने अपनी आत्मा को जाना, परमात्मा को जाना। पहले वे, जीवन ने जिन्हें जगाया। दूसरे वे, मृत्यु ने जिन्हें जगाया और तीसरे वे, जिन्हें सद्‌गुरु ने जगाया। तो इसमें सबसे बड़ी संख्या सद्‌गुरु के द्वारा जगाए जाने वाले शिष्यों की है, बाकी .1 प्रतिशत में प्रथम और द्वितीय कोटि के लोग आते हैं। उतने संवेदनशील और सजग लोग विरले ही होते हैं।

सद्‌गुरु ओशो स्वयं उसी कोटि के थे। उन्हें किसी गुरु की जरूरत नहीं पड़ी। जीवन और मृत्यु की घटनाओं को देखकर ही वे जाग गए। विशेषकर उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है कि उनके जीवन में तीन महत्वपूर्ण घटनाएं हुई, मृत्यु की घटनाएं। सबसे पहले उनके नाना जी की मृत्यु, नाना जी ने ही बचपन से उन्हें पाला–पोसा था। ओशो जब सात वर्ष के थे, जब नाना जी की मृत्यु हो गई। यह पहला सदमा था जिसने जगाया, चौंकाया, झकझोर के रख दिया। फिर एक छोटी बहन की मृत्यु हुई और फिर उनकी एक सहेली थी 'शशि' जिसका नाम था। टाईफाइड की बीमारी से उसकी मृत्यु हुई। ओशो कहते हैं कि इन तीन मृत्युओं ने मुझे जीवन की मूर्च्छा से जगा दिया। जीवन की जो वह गहरी नींद थी, वह टूटी और इक्कीस वर्ष की अवस्था में परम जागरण को उपलब्ध हुए। सद्‌गुरु तो उनका कोई नहीं था। उन्होंने सत्य की खोज स्वयं जीवन और मृत्यु को देख कर ही की।

दूसरा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि सद्‌गुरु ओशो की एक पुस्तक का शीर्षक अजीब लगता है 'सरमंस इन स्टोन्स' इसका क्या तात्पर्य है?

बाइबल में ईसा मसीह का यह वचन है। उसके आधार पर सद्‌गुरु ओशो ने अपनी किताब का शीर्षक चुना, यह टाइटल बनाया 'सरमंस इन स्टोन्स' मतलब तो बिल्कुल साफ है कि पत्थरों में भी उपदेश खुदे हैं। उनके लिए जिन्हें पढ़ना आता है, वरना तो शास्त्र और ग्रंथ भी किसी काम के नहीं हैं। सत्य के जानने वालों ने जो वचन कहे हैं वे भी अधिकांश लोगों के लिए कुछ उपयोगी साबित नहीं होते। हम अपनी अज्ञान भरी आंखों से, अपनी मूर्च्छा के माध्यम से जो पढ़ते हैं, सुनते हैं, वह कुछ का कुछ हो जाता है। उसका भावार्थ ही बदल जाता है। और जो सजग है, अभी पहले प्रश्न के उत्तर में मैं कह रहा था कि वे जीवन को देखकर ही जाग जाते हैं। उनके लिए तो पत्थर में, चट्टान में भी उपदेश खुदे हैं। उनके लिए तो पूरा जीवन ही शास्त्र है, उनके लिए तो पूरा जीवन ही सद्‌गुरु है।

तो यह महत्वपूर्ण वचन 'सरमंस इन स्टोन्स' पाषाण में लिखे संदेश, पत्थर की मूर्तियां इस देश में बनाई गई और सारी दुनिया में जगह–जगह बनाई गई हैं। उसका एक महत्वपूर्ण कारण था कि जानने वाले ऋषियों ने कहा कि जब तुम इतने संवेदनशील हो जाओ कि पत्थर में भी तुम्हें भगवान का दर्शन होने लगे, चैतन्यता का एहसास होने लगे तब जानना कि परम उपलब्धि हो गई। हमारे सामान अनुभवों में पत्थर सबसे ज्यादा मृतवत है, मुर्दा है। पत्थर से ज्यादा मुर्दा और कोई चीज नजर नहीं आती। यदि उसमें भी जीवंतता का दर्शन

होने लगे तो समझो कि हमारी आंख खुल गई। 'सरमंस इन स्टोन्स' इसी तरफ इशारा कर रहा है कि सारा जीवन ही जगाने वाला सद्‌गुरु साबित हो सकता है।

मुझे याद आता है 'पथ के प्रदीप' पत्र संकलन में सद्‌गुरु ओशो ने एक बहुत प्यारा संदेश दिया है। वह मैं आपको पढ़कर सुनाना चाहता हूं

'आंखें खुली हों तो पूरा जीवन ही विद्यालय है और जिसे सीखने की भूख है, वह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक घटना से सीख लेता है। और स्मरण रहे कि जो इस भांति नहीं सीखता है, वह जीवन में कुछ भी नहीं सीख पाता। इमरसन ने कहा है, हर शख्स जिससे मैं मिलता हूं किसी-न-किसी बात में मुझसे बढ़ कर है, वही मैं उससे सीख लेता हूं। एक दृश्य मुझे स्मरण आता है मक्का की बात है। एक नाई किसी के बाल बना रहा था। उसी समय फकीर जुन्नैद वहां आ गए और उन्होंने कहा कि खुदा की खातिर मेरी हजामत भी कर दें। उस नाई ने खुदा का नाम सुनते ही अपने गृहस्थ ग्राहक से कहा मित्र! अब थोड़ी देर मैं आपकी हजामत नहीं बना सकूंगा। खुदा की खातिर उस फकीर की सेवा मुझे पहले करनी चाहिए। खुदा का काम सबसे पहले है। इसके बाद फकीर की हजामत उसने बड़े ही प्रेम और भक्ति से बनाई और उसे नमस्कार कर विदा किया। कुछ दिनों बाद जब जुन्नैद को किसी ने कुछ पैसे भेंट किए तो वे उन्हें नाई को देने आए। लेकिन उस नाई ने पैसे नहीं लिए और कहा- आपको शर्म नहीं आती! आपने तो खुदा की खातिर हजामत बनाने को कहा था। रुपयों-पैसों की खातिर नहीं। फिर तो जीवन भर फकीर जुन्नैद अपनी मंडली में कहा करते थे कि निष्काम ईश्वर भक्ति मैंने एक हजाम से सीखी है।

क्षुद्रतम में भी विराट के संदेश छिपे हैं। जो उन्हें उघाड़ना जानता है, वह ज्ञान को उपलब्ध होता है। जीवन में सजग होकर चलने से प्रत्येक अनुभव प्रज्ञा बन जाता है और जो मूर्च्छित बने रहते हैं, वह द्वार आए आलोक को भी वापस लौटा देते हैं।'

तीसरा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि समाधि के पहले सात सोपान हैं, क्या उनके बिना भी समाधि को पाया जा सकता है?

नहीं, समाधि को पाने के लिए उन सोपानों से गुजरना जरूरी है। महर्षि पतंजलि ने अपने अष्टांगिक योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान ये सात सोपान बताए हैं। अगर हमने इनको नहीं साधा तो समाधि में डुबकी कभी नहीं लगेगी। ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान की झलक मिल सकती है बिना किसी पूर्व भूमिका के। इन छः सीढ़ियों पर बिना चढ़े हम ध्यान तक पहुंच सकते हैं, लेकिन वह पहुंचना ऐसा होगा जैसे कोई

आदमी छलांग लगाए। थोड़ी देर के लिए वह हवा में हो गया। लगेगा कि मैं जमीन से ऊपर उठ गया हूं। लेकिन अगले ही क्षण वह वापस जमीन पर आ जाएगा। वह जमीन के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र से बाहर नहीं निकल गया। थोड़ी देर के लिए एहसास हो सकता है कि जैसे ग्रेविटेशन फील्ड से बाहर निकल गया, हवा में उड़ रहा हूं। जल्दी ही वह फिर धरातल पर आ जाएगा।

ये जो सीढ़ियां हैं, पतंजलि ने इनको अष्टांगयोग कहा है। आठ चरण, समाधि इसमें आखरी है। ध्यान के पश्चात। शुरुआत के पांच अंगों को बहिंअंग कहा है। अंतिम तीन अंगों को धारणा, ध्यान, समाधि को योग का अंतरंग कहा है।

तो पांच बाहरी सीढ़ियां हैं, दो भीतर और आठवीं जो है वह तो छत पर पहुंच जाना है। तो सच पूछो तो सात ही सीढ़ियां हैं, आठवीं तो छत है। वहां हम खुले आकाश में पहुंच गए और स्वयं भी आकाशवत हो गए। इन सीढ़ियों के बिना कोई भी व्यक्ति सीधी छलांग छत पर नहीं लगा सकता। इसको ऐसा समझ लें कि सीढ़ी भी आखिर एक छोटी ही छलांग है। समझो एक–एक फुट की सीढ़ी है, हम सात फुट चढ़ गए। हम सीधा सात फुट छलांग नहीं लगा सकते थे। ऊंची चार मंजिला मकान है, दस मंजिला मकान है। छोटी–छोटी स्टेप्स में बंटा है। हम आसानी से चढ़ जाते हैं। दस मंजिला मकान की छत पर छलांग मारकर हम सीधा नहीं पहुंच सकते हैं। सोपान इसीलिए हैं उन्हें बाईपास नहीं किया जा सकता।

बहुत लोग ऐसा समझते हैं कि हम सीधे ही ध्यान और समाधि में डूब जाएंगे। क्या जरूरत है यम, नियम पालन करने की? क्या आवश्यकता है आसन, प्राणायाम की? नहीं, सब की जरूरत है। यम, नियम का अर्थ है कि संसार में हमारा व्यवहार, हमारा आचरण कैसा है। कुछ नियमों का पालन करना होगा, कुछ चीजें हमें अवाइड करनी होंगी, उन्हें संयम और नियम कहा गया है। फिर अपने शरीर से संबंधित है आसन और प्राणायाम। अपने शरीर को भी साधना होगा, अपनी श्वास को साधना होगा। फिर आता है प्रत्याहार, धारणा ये मन से संबंधित हैं। अपने मन को भी साधना होगा, उसको भी एलाइनमैंट करना होगा। हम चेतना की तरफ जा रहे हैं, लेकिन हम जहां हैं वहीं से शुरुआत करेंगे।

हम जी रहे हैं व्यवहारिक संसार में। वहीं से हमें शुरुआत करनी होगी। सबसे पहले अपने व्यवहार को इस योग्य बनाना होगा कि हम अंतर्मुखी हो सकें। फिर अपने शरीर को समायोजित करना होगा। फिर अपने मन को अनुकूल बनाना होगा और अंत में हम पहुंचेंगे अपनी चेतना में प्राथमिक झलक ध्यान और आखरी स्थाई रूप से जब वह मिल जाए तो उसका नाम है समाधि। इस बात को खूब अच्छे से समझ लीजिए। बिना इन सात सोपानों के सीधे समाधि में नहीं पहुंच सकते। इनको साधना होगा।

कई लोगों के मन में एक सवाल आता है, कई बार पूछा भी गया है मुझसे कि सद्गुरु ओशो ने तो सीधा ध्यान सिखाया बिना यम, नियम इत्यादि की चर्चा किए। ऐसा क्यों? उसका भी कारण है। आधुनिक युग में लोगों के पास समय नहीं है, वक्त की बड़ी कमी है।

अगर उनसे कहें कि लंबा रास्ता है ये–ये स्टेप्स हैं और ये पूरे करने होंगे। तब तो उनको लगता है कि फिर हमसे कभी हो ही नहीं पाएगा। यह तो संभव ही नहीं है। एक नामुमकिन सी बात प्रतीत होती है। ओशो ने एक शार्टकट कहा कि चलो ध्यान में तो तुम डूब सकते हो। माना कि यह थोड़ी देर के लिए ही होगा एक क्षणिक झलक मिलेगी बस और फिर छूट जाएगी। लेकिन एक बार व्यक्ति को झलक मिल जाए शांति की, ध्यान की, साक्षी भाव की तब उसके भीतर जिज्ञासा पैदा होगी फिर वह पूछेगा कि यह जो मैंने झलक पाई यह स्थाई कैसे हो? यह जो आनंद की स्फूर्णा मेरे भीतर हुई यह परमानेंट कैसे हो? तब उससे कहा जा सकता है कि ये स्टेप्स पूरे करने होंगे।

तो चलकर ही जाना होगा। लेकिन एक झलक दिखाना एक उपयोगी है। विशेषकर आज के युग में जहां लोगों के पास इतना धैर्य भी नहीं है। पुराने जमाने में समय की ऐसी अनुभूति नहीं थी, जैसी आज है। लोग बड़े धीरज से साधना करने को तैयार होते थे। किसी को जल्दबाजी नहीं थी, हड़बड़ी नहीं थी। आज बड़ी जल्दबाजी का युग है। हम बैलगाड़ी के जमाने से जैट युग में प्रवेश कर गए हैं। अगर हमारी साधना पद्धति न बदले और हम जिद्द करें कि हम पुराने ढंग से ही चलेंगे एक–एक सीढ़ी, एक–एक सीढ़ी। तब तो बड़ा मुश्किल है। फिर तो जगत में बहुत ही कम लोग उत्सुक हो पाएंगे और उस ऊपर की मंजिल तक पहुंच पाएंगे।

तो सद्गुरु ओशो ने एक नया प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि ध्यान की झलक तो मिल ही सकती है किसी को भी। बिना शरीर की तैयारी के, बिना मन की तैयारी के, बिना यम, नियम का पालन किए भी। लेकिन झलक पाने के बाद जब तुम्हारे भीतर गहरी जिज्ञासा उत्पन्न हो जाएगी तब तुम किसी भी कीमत पर पाना चाहोगे। अब तुम कीमत चुकाने को राजी हो। पहले तो तुम कीमत चुकाने को तैयार ही नहीं थे। अब व्यक्ति राजी हो जाएगा। इसलिए ऐसा शार्टकट खोजा है।

चौथा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि कुंडलिनी जागरण में यदि खतरा है, तो फिर यह करवाया ही क्यों जाता है?

खतरा तो हर चीज में है। ट्रेन में यात्रा करने में खतरा है तो क्या ट्रेन में यात्रा करना बंद कर देंगे? हवाई जहाज के एक्सीडेंट हो जाते हैं, अपहरण हो जाते हैं। क्या हवाई जहाज का उपयोग करना बंद कर देंगे? घर में आप बिजली लगवाएंगे कि नहीं लगवाएंगे? जानते हैं कि कई लोगों को इलैक्ट्रिक शॉक लग जाता है और खत्म हो जाते हैं। खतरा तो है। जहां भी ऊर्जा है, शक्ति है वहां खतरे भी हैं। हमको यह नहीं सोचना चाहिए कि हम इसका उपयोग ही न करें। हमें यह सोचना चाहिए कि सदुपयोग कैसे करें और दुर्घटना से कैसे बचें? निश्चित रूप से कुंडलनी जागरण अपने भीतर की जैविक ऊर्जा को, अपनी बायो एनर्जी को जगाने का प्रयोग है। पुरानी भाषा में उसको कुंडलिनी कहा जाता था। आज की

भाषा में उसको हम वाइटल फोर्स, जैविक ऊर्जा कह सकते हैं। निश्चित रूप से जब ऊर्जा जागेगी तो इसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष दोनों संभव हैं। हाई वोल्टेज करंट आएगा। बल्ब फ्यूज भी हो सकता है। हमें बड़ा बल्ब लगाने की तैयारी करनी होगी।

कोई व्यक्ति कुंडलिनी को जगा ले और पुराने मन के पैटर्न से ही जिए। वही क्रोधी चित्त, वही अशांत, बेचैन चित्त। तब यह ऊर्जा उसके क्रोध को मिल जाएगी। वह क्रोधी से महा क्रोधी बन जाएगा, आतंकवादी बन जाएगा। अपने चित्त को बदलना होगा। अब उसे अपने आप को शांतिपूर्ण, प्रेमपूर्ण, करुणावान बनाना होगा। तब यह ऊर्जा प्रेम की तरफ, करुणा की तरफ प्रवाहित होगी।

ऐसा समझो कि एक बांध बनाकर हमने नदी को रोक लिया। अब हमारे पास स्टेटिक एनर्जी मौजूद है। यदि हम नहर बनाकर इसको ले जाएंगे और बिजली पैदा करेंगे तो यह सदुपयोग में आ जाएगी। बहुत सारे गांवों को रोशन कर सकेगी, रात का अंधेरा मिटा सकेगी। इससे हम हजारों हेक्टेयर जमीन में पानी सींच सकते हैं, फसल पैदा कर सकते हैं, बहुत भूखे लोगों का पेट भर सकते हैं। और यही बांध अगर टूट गया और पुरानी नदी की जगह से बह गया तो हजारों लोगों का जीवन नष्ट भी हो सकता है, गांव–के–गांव तबाह भी हो सकते हैं। पानी में शक्ति है। उसका सदुपयोग करेंगे तो बहुत सुंदर हो जाएगा। सत्यम् शिवम् सुंदरम् की दिशा में उसे लगाना है।सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं जरूरी बात यही है।

मैंने सुना है कि एक शहर में रामकथा चल रही थी। बीच में माइक पर अनाउंसमेंट हुआ– 'भाई पवन अरोडा जी, जहां कहीं भी हों, तुरंत घर पहुंचें। वन्दना भाभी, उनका घर पर इंतजार कर रही हैं। कोई जरूरी बात है।'

तल्लीनता से राम कथा सुन रहे बेचारे भाई पवन अरोड़ा तत्काल उठ खड़े हुए और घर जाने को अग्रसर हुए। तभी महिलाओं में बैठी श्रीमती वन्दना अरोडा जोर से चिल्लाई– अरे बैठो, पप्पू के पापा, बैठो। राम कथा सुनो।

पवन अरोड़ा ने गुस्से में पूछा– यह क्या बदतमीजी है। बोलो, क्या जरूरी बात है?

उनकी पत्नी बोली– जरूरी बात यही चेक करनी थी कि तुम वास्तव में राम कथा ही सुनने गए हो या कहीं और... किसी अन्य की सीता के चक्कर में?

तो यह मत पूछिए कि कुंडलिनी जागरण क्यों करें?

जरूरी बात यही चेक करनी है कि कुंडलिनी जागरण के बाद उसका सदुपयोग कैसे करें? सद्गुरु ओशो ने जो कुंडलनी ध्यान की विधि बनाई है, वह इस ढंग से बनाई है कि उस खतरे से हम बच सकें और जागी हुई ऊर्जा को आनंद की तरफ, उत्सव की तरफ, नृत्य की तरफ, गीत की तरफ, अहोभाव की तरफ ले जा सकें।

उत्सव शरणं गच्छामि। ओशो शरणं गच्छामि।।

प्रवचन 19

कुछ इंसान, भगवान–से और कुछ शैतान–से!

पहला प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि कुछ इंसान भगवान जैसे, तो अधिकतर शैतान जैसे क्यों बन गए हैं? क्या प्रकृति के द्वारा किया गया यह भेदभाव अन्यायपूर्ण नहीं है?

जरा भी अन्यायपूर्ण नहीं है। प्रकृति ने हमें स्वतंत्रता दी है और यही मनुष्य होने की गरिमा और महिमा है। अगर हम मजबूरी में भगवान जैसे हों, फिर हमारी कोई स्वतंत्रता नहीं होगी। यदि शुभ होने के लिए, साधु होने के लिए, सज्जन होने के लिए हमारी लाचारी हो कि हम इससे डिफ्रेंट हो ही नहीं सकते तब हमारी स्वतंत्रता कहां बची? फिर तो हम बंधन में हो गए। हमारी स्वतंत्रता है कि हम सज्जन भी हो सकते हैं और दुर्जन भी हो सकते हैं। हम साधु हो सकते हैं, हम असाधु हो सकते हैं। हम पुण्यात्मा हो सकते हैं, हम पापी भी हो सकते हैं। यह स्वतंत्रता हमको प्रकृति ने दी है, इसलिए प्रकृति के प्रति धन्यवाद भाव से भरो, शिकायत से नहीं कि कैसा भेदभाव किया। भेदभाव उसकी तरफ से नहीं, भेदभाव हमारी तरफ से है।

एक बहुत प्रीतिकर घटना स्मरण अती है, सद्गुरु ओशो ने अपने प्रवचन में सुनाई है। वे कहते हैं कि एक चित्रकार था, उसके मन में आया कि किसी ऐसे व्यक्ति की पेंटिंग बनाऊं जिस पेंटिंग को देखते ही दिव्यता का, भगवत्ता का स्मरण आए। जिसको देखकर स्मरण आए कि जरूर कोई अवतार, पैगम्बर, ईश्वर पुत्र रहे होंगे दुनिया में। वह खोज में निकला। एक बहुत सुंदर व्यक्ति की, सौम्य व्यक्ति की, शांत व्यक्ति की जिसके आसपास दिव्यता का आभा मंडल हो। बड़े वर्षों की खोज के बाद अंततः उसे एक नवयुवक मिल गया। एक जंगल में वह भेड़ चराता था, गाय, भैंस चराता था, चरवाहा था। छोटी ही उसकी उम्र थी 18–19 बरस का रहा होगा। उसको देखकर लगा कि यह है भागवत मूर्ति। वह एक पेड़ के नीचे बैठकर बांसुरी बजा रहा था। उसकी भेड़, गाय, भैंस आसपास घास चर रहे थे। यह चित्रकार बहुत प्रसन्न हुआ कि मिल गया वह व्यक्ति जिसकी मैं खोज कर रहा था। इतना सुंदर, इतना शांत, इतना सौम्य, इतना दिव्य बस देख कर लगता है कि परमात्मा ही अवतरित हो गया। उसने उससे निवेदन किया कि मैं तुम्हारी पेंटिंग बनाना चाहता हूं। वह

खुशी–खुशी राजी हो गया। उस पेंटर ने उसका चित्र बनाया और उसका हृदय गदगद हो गया। ऐसा चित्र उसने आज तक नहीं बनाया था।

फिर कहानी है कि चित्रकार बूढ़ा हो गया और लंबे समय के बाद वृद्ध अवस्था में उसे ख्याल आया कि जीवन के खट्टे–मीठे अनुभवों से पता चलता है कि केवल भगवान ही नहीं, शैतान भी दुनिया में मौजूद है और एक ऐसी तस्वीर और बनानी चाहिए जिससे शैतानियत झलकती हो। वह भगवान की तस्वीर अधूरी है। शैतानियत भी दुनिया में है, बुराईयां भी दुनिया में हैं। वह फिर ऐसे व्यक्ति की खोज में निकला जो बहुत बुराईयों का भंडार नजर आता हो। वह पागलखानों में गया, कारागृहों में गया, बड़े–बड़े जघन्य अपराधियों से मिला।

अंततः एक जगह उसे वह व्यक्ति मिल गया, जिसको देखकर ही डर लगता था। लगता था कि खौफनाक कोई राक्षस, कोई शैतान ही जमीन पर आ गया है। इंसानियत कहीं नजर नहीं आती थी उसके हाव–भाव से, उसके चेहरे से, उसकी आंखों से। इस चित्रकार ने सोचा कि इसी की तस्वीर बनाऊं। वह अपराधी था, कई हत्याओं का उस पर आरोप था और जल्दी ही उसको मृत्यु दण्ड मिलने वाला था। यह चित्रकार वहीं जेल में बैठकर उसकी तस्वीर बनाने लगा।

एक दिन उसने देखा कि वह अपराधी रो रहा है। इसकी तो कल्पना के बाहर था कि महा हत्यारा और इसकी आंखों में कभी आंसू आएंगे। उसने कहा कि आपकी आंखों में आंसू मैं देखकर हैरान हूं। आपकी आंखें तो बिल्कुल पत्थर जैसी थीं, पाषाणवत। उस हत्यारे ने कहा कि अगर मैं आपको बताऊंगा कि मैं क्यों रो रहा हूं, तो आप भी रो देंगे। उस चित्रकार ने कहा कि जरूर बताइए मैं जानना चाहता हूं कि ऐसी क्या बात हो गई। उसने कहा, सच्ची बात बताता हूं कि वह जो पहली तस्वीर तुमने बनाई थी वह भी मेरी ही थी। मैं तो भूल ही गया था कि मेरा जीवन भी कभी बड़ा डिव्हाइन और दिव्य हुआ करता था कि मैं जंगल में चैन की बांसुरी बजाया करता था। गाय, भैंस चराता था, प्रकृति में रमण करता था। आज तुम्हें देखकर याद आया है। तुम्हारी शक्ल देखकर कि अरे! तुम तो वही चित्रकार हो जो बूढ़े हो गए और तब मुझे अपने ऊपर रोना आ रहा है कि मैंने कहां से कहां तक की यात्रा कर ली है। मनुष्य भगवान भी हो सकता है, मनुष्य शैतान भी हो सकता है और यह उसकी स्वतंत्रता है। वह कभी भी चाहे तो पलट सकता है। कोई चीज उसे रोक नहीं रही।

तो मत कहिए कि प्रकृति ने भेदभाव क्यों किया है? प्रकृति ने भेदभाव नहीं किया और प्रकृति को धन्यवाद दो कि उसने हमको फ्रीडम दी है। हम अपने जीवन के निर्माता स्वयं हैं। हम शुभ दिशा में भी जा सकते हैं, अशुभ में भी जा सकते हैं। हम सत्यम् शिवम् सुंदरम् और सच्चिदानंद को पा सकते हैं और हम चाहें तो जीवन में कष्ट, संताप, दुख और चिंताएं और भय इसमें उलझ सकते हैं। सब हम पर निर्भर है। कोई हमें डायरेक्शन नहीं दे रहा है, कोई हमें बना–बनाया रास्ता नहीं दे रहा है। प्रकृति ने हमें पूर्ण स्वतंत्रता दी है, हमारा सम्मान किया है। इंसान भगवान भी हो सकता है, शैतान भी हो सकता है और यह बिल्कुल उसी के हाथ में है और किसी के हाथ में नहीं।

दूसरा प्रश्न : एक मित्र कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में ध्यान की क्या आवश्यकता है? क्या इसके बिना उसकी गाड़ी नहीं चल सकती?

चल तो सकती है, मगर दुर्घटनाग्रस्त होगी– ध्यान के बिना अर्थात् होश के बिना। इसको एक उदाहरण से समझ लें। कोई आदमी शराब पीकर बेहोश होकर कार ड्राइव कर रहा है। वह पूछ सकता है कि क्या शराब पीकर गाड़ी नहीं चला सकते? चला तो सकते हैं मगर खतरा है। आप अपने प्राण भी गंवा सकते हैं और दो–चार के प्राण भी ले सकते हैं। बोतल की शराब कोई पिए वह तो हमारी समझ में आता है कि वह नशे में है लेकिन एक और सूक्ष्म मूर्च्छा है, जो हमारी आत्मा को ढांके हुए है। वह मूर्च्छा हमारे भावावेशों की, हमारे विचारों की, हमारी धारणाओं और विश्वासों की सतत चल रही विचार प्रक्रियाओं की है।

जैसे आकाश में बादल भर जाएं। आषाढ़ के मेघ और आकाश दिखाई नहीं देता बादल ही बादल हो जाते हैं। ठीक वैसे ही हमारी चेतना के आकाश में विचार–ही–विचार, भावनाएं–ही–भावनाएं हैं, उन्होंने चेतना को ढंक लिया है। लिया है और आत्मा का कहीं पता भी नहीं चलता। निश्चित रूप से इन सतत चल रही विचारों की भीड़ में एक प्रकार की मूर्च्छा ने हमें घरे लिया है। हम पूरे होशो–हवास में नहीं हैं।

जब कोई व्यक्ति क्रोधित होता है, क्या वह क्षणिक पागलपन में नहीं है? क्या वह होशो–हवास में है? जब कोई व्यक्ति किसी कट्टरपंथी विचार से आवेशित होता है, क्या वह मूर्च्छा में नहीं है? क्या उसे होशपूर्ण कहा जा सकता है? सामान्य व्यक्ति की जीवनचर्या को देखें तो स्पष्ट नजर आता है कि वह लगभग बेहोशी में जी रहा है। एक आदमी है, उसकी पत्नी से झगड़ा हो गया। ऑफिस में जब वह शाम को वापस लौट रहा था तो उसने मन–ही–मन कसम खा ली कि आज घर जाकर पत्नी से उन मुद्दों पर चर्चा नहीं करूंगा जिस पर झगड़ा हुआ था। वह बात ही नहीं उठाऊंगा। अब मुझे क्रोध नहीं करना है, इससे मेरा जीवन नरक हुआ जा रहा है। वहां उसकी पत्नी घर में बैठी तैयारी कर रही थी कि पति देव जब आएंगे तो बहुत प्रेम से बात करूंगी, उनको चाय–नाश्ता कराऊंगी और कल जिन विषयों पर झगड़ा हुआ था उसकी कोई चर्चा ही नहीं करेंगे, वह बात ही छोड़ देंगे। दोनों ने तय कर लिया है। घर पहुंचा, मुलाकात हुई और दो–चार मिनट के अंदर वह पाएंगे कि फिर वही बात छिड़ गई, जिस पर मत–मतांतर हुआ था। फिर विवाद खड़ा हो गया, फिर झगड़ा खड़ा हो गया।

क्या इस व्यक्ति को हम होशपूर्ण कह सकते हैं? यदि इसने अपने होशो–हवास में यह निर्णय लिया था कि झगड़ा नहीं करना है, अपने परिवार वालों के संग प्रेमपूर्वक जीना है। फिर यह झगड़ा किसने किया? क्या उस महिला को हम कह सकते हैं कि वह सजग है? नहीं, एक प्रकार की बेहोशी छाई हुई है। जहां उसने पति को देखा उसके भीतर के पुराने भावावेश वापस आ गए और जो उसने निर्णय लिया था कि झगड़ा नहीं करूंगी, बहुत प्रेमपूर्वक, सम्मानपूर्वक बात करूंगी वह सारे निर्णय उसके गायब हो गए और वह उस मूर्च्छा में फिर वही करने लगी जो पीछे वह कर चुकी थी।

तो सामान्य व्यक्ति के जीवन की गाड़ी बस यूं चल रही है बेहोशी–बेहोशी में। वही सब कुछ हो रहा है जो हम चाहते हैं कि न हो और जो हम चाहते हैं कि हो, वह कभी हो ही नहीं पाता। अधिकांश लोगों को मृत्यु के समय में बड़ा विषाद घेर लेता है, फ्रस्ट्रेशन. उसका कारण क्या है? कारण यह नहीं कि मृत्यु दुखदायी है। मृत्यु के समय में अचानक उनको ख्याल आता है कि जीवन का इतना लंबा समय बीत गया सत्तर–अस्सी साल और हम वह कर ही नहीं पाए जो हम करने आए थे और हमने वह सब कर दिया जो कभी हमने सोचा ही नहीं था। जो करना हमारा लक्ष्य ही नहीं था। क्या ऐसे जीवन की गाड़ी चलने को हम होशपूर्ण चलना कह सकते हैं? तो ध्यान यानि होश, ध्यान यानि सजगता, जागरूकता, अवेयरनेस, कांशियसनेस. सदगुरु ओशो के पत्रों में से एक पत्र मैं आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा जिसमें इस सवाल का जवाब भी मिल जाएगा–

मनुष्य के पैर नरक को और उसका सिर स्वर्ग को छूता है। ये दोनों ही उसकी संभावनाएं हैं। इन दोनों में से कौन सा बीज वास्तविक बनेगा यह उस पर और केवल उस पर निर्भर है। मनुष्य की श्रेष्ठता स्वयं उसके अपने हाथों में है। प्रकृति ने तो उसे मात्र संभावनाएं दी हैं बस। उसका रूप निर्णित नहीं है। वह स्वयं को स्वयं ही सृजन करता है। यह स्वतंत्रता महिमापूर्ण है। किंतु हम चाहें तो इसे दुर्भाग्य भी बना सकते हैं और अधिक लोगों को यह स्वतंत्रता दुर्भाग्य ही सिद्ध होती है। क्योंकि सृजन की क्षमता में, विनाश की क्षमता और स्वतंत्रता भी तो छिपी है। अधिकतर लोग दूसरे विकल्प का ही उपयोग करते हैं, क्योंकि निर्माण से विनाश आसान होता है और स्वयं को मिटाने से आसान और क्या है? 'स्व' विकास के लिए आत्म सृजन में न लगना ही काफी है। उसके लिए अलग से और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती।

जो जीवन में ऊपर की ओर नहीं उठ रहा है, वह अनजाने और अनचाहे ही पीछे और नीचे गिरता चला जाता है। मैंने सुना है किसी सभा में चर्चा चली थी कि मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, क्योंकि वह सब प्राणियों को वश में कर लेता है। किंतु कुछ का विचार था कि मनुष्य तो कुत्तों से भी नीचा है, क्योंकि कुत्तों का संयम मनुष्यों से कई गुना ज्यादा श्रेष्ठ है। इस विवाद में हजरत हुसैन जी उपस्थित थे। दोनों पक्ष वालों ने उनसे निर्णायक मत देने को कहा। हुसैन ने कहा– मैं अपनी बात कहता हूं, उसी से निर्णय कर लेना। जब तक मैं अपना चित्त और जीवन पवित्र कामों में लगाए रहता हूं, तब तक देवताओं के करीब होता हूं। किंतु जब मेरा चित्त और जीवन पापमय होता है, तो कुत्ते भी मुझ जैसे हजार हुसैनों से श्रेष्ठ होते हैं। मनुष्य मृणमय और चिन्मय का जोड़ है। जो देह का और उसकी वासनाओं का अनुसरण करता है, वह नीचे–से–नीचे उतरता चला जाता है और जो चिन्मय के अनुसंधान में रत होता है, वह अंततः

सच्चिदानंद को पाता और स्वयं भी वही हो जाता है।

तीसरा प्रश्न : एक मित्र पूछते हैं कि निद्रा, योग निद्रा और समाधि में क्या अंतर है?

कुछ थोड़ी–सी समानताएं हैं, पहले वह समझ लें फिर अंतर समझना आसान हो जाएगा। निद्रा एक प्राकृतिक क्रिया है। हम रोज रात को सो जाते हैं, शरीर थक जाता है और विश्राम में जाना चाहता है, रिलैक्स्ड हो जाता है। मन भी थक गया, मन भी सो जाता है। योग निद्रा ऐसी अवस्था है, जिसमें हमने निद्रा को आमंत्रण दिया है। इसको हम कह सकते हैं –निमंत्रित निद्रा, हिप्नोटिक ट्रांस की अवस्था। हमने स्वयं ही अपने आप को रिलैक्स्ड छोड़ दिया और हमने भाव किया कि मानो नींद आ रही है, नींद आ रही है। शरीर सोया–सोया जैसा हो गया, चित्त भी सोया–सोया जैसा हो गया। सिर्फ एक छोटा–सा कोना जागृत रहा। वह जो भीतर सुझाव दे रहा है, वह तो जागा ही रहा।

तो यह हुई योग निद्रा या हिप्नोटिक ट्रांस की अवस्था, सम्मोहन की अवस्था। तीसरी है ध्यान की गहराई, समाधि की अवस्था। इसमें ऊपर–ऊपर से तो हम सोए–सोए हो गए। तन भी सो गया, मन भी सो गया, विचार और स्वप्न भी बंद हो गए, शारीरिक क्रियाएं भी खत्म हो गई। लेकिन भीतर चैतन्य परिपूर्ण रूप से जागृत है। बाहर के किसी विषय के प्रति नहीं, स्वयं अपने प्रति। चेतना को बस चेतना का ही बोध हो रहा है। अब आप अंतर को समझ लें। एक चीज कॉमन है सब में, वह है डीप रिलैक्सेशन. निद्रा सहज रूप से रोज आती है, उसमें तन, मन सो जाते हैं चेतना का तो कोई एहसास होता ही नहीं। पूर्ण बेहोशी छा जाती है या सपनों के प्रति सजगता बनी रहती है। जो काल्पनिक फिल्म भीतर चल रही है, उसके दृश्य दिखाई देते रहते हैं। योग निद्रा में हमने जानबूझ कर अपने आप को सोने वाली अवस्था में पहुंचाया। तन, मन को हमने सुझाव देकर, सजेशन देकर रिलैक्स कर दिया। सांस को धीमा छोड़ दिया। मन का एक हिस्सा जागा रहा, जिसको हम अवचेतन मन कहते हैं, सबकांशियस माइंड। चेतन मन सो गया। वह जो विचारों की निरंतर शृंखला चलती थी वह बंद हो गई और गहराई में प्रवेश मिल गया अवचेतन मन में, डीप सबकांशियस में। यह योग निद्रा की अवस्था हुई।

समाधि में हम महाचेतन में पहुंचे, सुपर कांशियसनेस में। तो सामान्य हमारा मन चेतन मन है जो दिन में कार्य करता है। स्वप्न में अवचेतन मन कार्य करता है और सुषुप्ति में, गहन निद्रा में अवचेतन भींद हो जाता है। समाधि में हम अतिचेतन, सुपर कांशियसनेस में पहुंच जाते हैं, उसमें दिशा ब्किुल उल्टी है। तो प्राथमिक चरण रिलैक्सेशन के हैं। शरीर को ढीला ड़ना, श्वास शांत हो जाए, मन शांत हो जाए, चुप हो जाए और उस मौन साटे में फिर चेतना अपनी पूर्णता में प्रगट हो जाए। उसकी पूर्ण खिलावट हो जाए। तो तीनों में भेद है, कुछ समानता भी है। तो रिलैक्सेशन की समानता है और अवेयरनेस उसका भेद है, अलग–अलग प्रकार की अवेयरनेस है। **जय ओशो।**

प्रवचन 20

पारंपरिक और ओशो की नई ध्यान विधियों में भेद

पहला प्रश्न : ओशो ने इस जगत को बहुत कुछ दिया है। धर्म के रूप में, अध्यात्म के रूप में, विधियों के रूप में। तो ओशो जिसे ध्यान कहते हैं, सही मान्य में वह ध्यान क्या है? ओशो का ध्यान तथाकथित पारंपरिक ध्यान विधियों से कितना भिन्न है?

बहुत महत्वपूर्ण सवाल आपने उठाया। सबसे पहले तो ओशो की दृष्टि में ध्यान क्या है वह समझ लें और फिर उन्होंने मौलिक रूप से इसमें क्या जोड़ा-घटाया हम उसकी चर्चा करेंगे।

ओशो की दृष्टि में ध्यान का अर्थ है– होश। सामान्य भाषा में जब हम कहते हैं ध्यान, तो हमारा अर्थ होता है किसी बाहरी विषय के प्रति होश (ऑब्जेक्ट अवेयरनेस)। लेकिन अध्यात्म में जब कहा जाता है 'ध्यान' तो ओशो का अर्थ है कि स्वयं के प्रति होश (सब्जेक्टिव कांशियसनेस, सब्जेक्टिव अवेयरनेस)। सामान्यतः परंपराओं में ध्यान का अर्थ एकाग्रता (कंसंट्रेशन) माना जाता है। ओशो का बिल्कुल दूसरा अर्थ है। वे कहते हैं– कंसंट्रेशन इज नाट मेडिटेशन. कंसंट्रेशन में एक एफर्ट है, एक प्रयास है, एक प्रयत्न है और कोई भी प्रयत्न हमें थोड़ी देर में थका देता है। ओशो की दृष्टि में ध्यान का अर्थ है– सहज, जागरण। कहीं पर फोकस नहीं।

एक छोटे से उदाहरण से समझ लें। कंसंट्रेशन ऐसे जैसे कोई टॉर्च की रोशनी। उसमें लेंस लगा हुआ है और किसी विशेष जगह पर उसके प्रकाश का फोकस किया जा रहा है। अन्यत्र सब जगह अंधेरा है। और ध्यान का अर्थ है– जैसे दीपक जल रहा हो। सब दिशाओं में एक सी रोशनी फैल रही है। टॉर्च वाली रोशनी कंसंट्रेशन है और उसमें हमारी चेतना थक जाएगी और हमें उसमें विश्राम लेना पड़ेगा। वह हमेशा नहीं सध सकता।

ओशो जिस ध्यान की बात कर रहे हैं, वह रिलैक्स्ड अवेयरनेस है। उसमें हम हमेशा हो सकते हैं क्योंकि हम विशेष कुछ भी नहीं कर रहे हैं, ऐसा सहज रूप से, स्वभाविक रूप

से हमारी चेतना का स्वभाव ही है। तो संक्षिप्त में तो ध्यान यानि होश, जागरण। मैं 'पथ के प्रदीप' नामक पत्र संकलन से ओशो का एक पत्र आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा–

'जो जीवन को पाना चाहता है, उसे अपनी निद्रा और मूर्च्छा छोड़नी होगी। साधारणतः हम सोए ही हुए हैं। हमारे भाव, विचार और कर्म सभी मूर्च्छित हैं। हम उन्हें ऐसे कर रहे हैं, जैसे कि कोई और हमसे कराता हो और जैसे कि हम किसी गहरे सम्मोहन में उन्हें कर रहे हों। जागने का अर्थ है कि मन और काया से कुछ भी मूर्च्छित न हो। जो भी हो वह पूरी जागरूकता और सजगता में हो। ऐसा होने पर अशुभ असंभव हो जाता है और शुभ सहज ही फलित होता है।

संत भीखा के जीवन की घटना है। वे एक रात्रि प्रवचन करते रहे थे। आसो जी नाम का एक श्रावक सामने बैठा नींद ले रहा था। भीखा ने उससे पूछाः आसो जी नींद लेते हो? आसो जी ने आंखें खोलीं, कहाः नहीं, महाराज। थोड़ी देर, और फिर नींद वापस लौट आई। भीखा जी ने फिर पूछाः आसो जी सोते हो? फिर मिला वही उत्तरः नहीं महाराज। नींद में डूबा आदमी सच कब बोलता है! और बोलना भी चाहे तो बोल कैसे सकता है! नींद फिर से आ गई। इस बार भीखा ने जो पूछा, वह अद्‌भुत था। उसमें बहुत अर्थ है। वह प्रश्न प्रत्येक को स्वयं से पूछने योग्य है। वह अकेला प्रश्न ही बस, सारे तत्व–चिंतन का केंद्र और मूल है। उन्होंने जोर से पूछाः आसो जी जीते हो? आसो जी तो सोते थे। निद्रा में सोचा कि वही पुराना प्रश्न है। आंखें तिलमिलाईं और बोलेः नहीं, महाराज। भूल से सही उत्तर निकल गया। निद्रा में जो है, वह मृत ही के तुल्य है। प्रमादपूर्ण जीवन और मृत्यु में अंतर ही क्या हो सकता है? जाग्रत ही जीवित है। जब तक हम विवेक और प्रज्ञा में जागते नहीं हैं, तब तक हम जीवित भी नहीं हैं।

स्मरण रहे कि मैं मूर्च्छा को ही पाप कहता हूं। अमूर्च्छित चित्त–दशा में पाप वैसे ही असंभव है, जैसे कि जानते और जागते हुए अग्नि में हाथ डालना। जो अमूर्च्छा को साध लेता है, वह सहज ही धर्म को उपलब्ध हो जाता है।'

तो सद्‌गुरु ओशो की दृष्टि में यह अमूर्च्छा या अप्रमाद या जागरण ही ध्यान है। अब मैं चर्चा करना चाहूंगा उन बिंदुओं की जो ओशो ने पारंपरिक ध्यान में परिवर्तित किए।

आधुनिक युग में मनुष्य का चित्त बहुत दमित हो गया है। बहुत से सप्रेस्ट थॉट्स और इमोशन्स उसके भीतर मौजूद है। जैसे–जैसे सभ्यता विकसित होती चली गई यह स्वभाविक दुष्परिणाम था। हर चीज के पॉजिटिव और निगेटिव पक्ष होते हैं। जितना ही शिक्षित और सभ्य सुसंस्कृत व्यक्ति होता चला जाता है, उतना ही वह अप्राकृतिक और

अनैसर्गिक हो जाता है। वे जो दमित भावनाएं और आवेग हमारे भीतर हैं, जब हम ध्यान में डूबेंगे और अपने भीतर जाने का प्रयास करेंगे तो वही दमित आवेग हमारे लिए एक दीवार बन जाते हैं। हम भीतर प्रवेश ही नहीं कर पाते हैं। तो जरूरी था कि इस दीवार को ध्वस्त करना। सद्गुरु ओशो ने ध्यान के पूर्व एक भूमिका निर्मित करने का एक उपाय किया और वह है कैथारसिस या रेचन। जो भी अपने भीतर भरा है उसे उलीच कर बाहर फेंक दो।

तो सद्गुरु ओशो ने इस प्रकार की ध्यान विधियां बनाई हैं, जिनमें दमित भावनाओं का कैथारसिस हो जाती है, रेचन हो जाता है और तब हमें भीतर प्रवेश का मार्ग मिलता है। और दूसरी बात सद्गुरु ओशो ने ध्यान के पश्चात जोड़ी हैं। एक बात हुई ध्यान के पूर्व भूमिका स्वरूप और दूसरी ध्यान के पश्चात् उपसंहार स्वरूप। ध्यान के पश्चात् उन्होंने अहोभाव, नृत्य, संगीत, आनंद भाव में डूबना जोड़ा। सच पूछो तो उन्होंने भक्ति का सारसूत्र ध्यान के पश्चात् जोड़ा।

तो एक प्रकार से ध्यान और भक्ति का संगम करा दिया। पुराने जमाने में ये दो धाराएं बिल्कुल अलग-अलग समझी जाती थीं। जो ध्यान में, योग में, संकल्प के रास्ते पर चलते थे वे समर्पण को, भक्ति को, श्रद्धा को, अहोभाव को छोड़कर चलते थे। प्रार्थना उनके जीवन से हट जाती थी। उदाहरण के लिए जैन धर्म, बौद्ध धर्म उनमें भक्ति की कोई जगह नहीं है और जो लोग भक्ति की साधना करते थे उनके जीवन से जागरण और होश खो जाता था। सद्गुरु ओशो ने दोनों के बीच में एक बहुत सुंदर समन्वय स्थापित किया। याद रखना, दुनिया में आधे पुरुष हैं और आधी स्त्रियां हैं। आधे लोगों के लिए ध्यान का मार्ग, योग का मार्ग, संकल्प का मार्ग उचित है और आधे लोगों के लिए समर्पण का, भक्ति का, श्रद्धा का, प्रार्थना का मार्ग उचित है। लेकिन बहुत बड़ा वर्ग है जो न तो शुद्ध रूप से स्त्रैण चित्त में और न ही पुरुष चित्त की कैटेगरी में आता है। ओवर लैपिंग है। सच पूछो तो हर व्यक्ति के भीतर यूं तो दोनों ही बातें मौजूद हैं। माता-पिता से हमारे शरीर का निर्माण हुआ है। हममें कुछ गुण पुरुष वाले और कुछ गुण मातृत्व वाले दोनों ही सम्मिलित हैं।

सद्गुरु ओशो ने ऐसी विधियां बनाई हैं, जिनमें इन दोनों का समन्वय हुआ। तो ध्यान के पश्चात प्रार्थना में, अहोभाव में डूबना। तो ये दो नई बातें- एक ध्यान के पूर्व और एक ध्यान के पश्चात। यह आधुनिक युग की जरूरत थी।

दूसरा प्रश्न : कई बार लोगों को ध्यान के दौरान नींद आ जाती है, तो इनको क्या कहेंगे? क्या उनका ध्यान नहीं लग रहा है या ध्यान की गलत विधि उपयोग कर रहे हैं। क्या ध्यान के वक्त नींद आना गलत है या ठीक है।यह समस्या काफी लोगों की है। कृपया मार्ग दर्शन करें?

विशेषकर बिजली के खोज के पश्चात और आधुनिक युग में इंटरनेट, मोबाइल,

टेलिविजन की खोज के पश्चात लोगों की नींद के घंटे बहुत कम हो गए हैं। स्वभाविक रूप से एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति को आठ से लेकर दस घंटे प्रति दिन सोना चाहिए। करीब–करीब दो–तीन घंटे की कमी, एवरेज हर व्यक्ति को हो गई है। विशेषकर महानगरों में तो और भी ज्यादा कमी हो गई है। लोग दिन में काम में व्यस्त हैं, आवागमन में बहुत समय जा रहा है, तीन–चार घंटे रोज लोग ड्राइविंग कर रहे हैं या ट्रेन में यात्रा कर रहे हैं और फिर रात्रि का समय कम्युनिकेशन चैनल्स चालू हैं। कुछ देख रहे हैं, सुन रहे हैं, बात कर रहे हैं। तो जो स्वभाविक नींद नहीं हो पाई, जैसे ही हम रिलैक्स होंगे हमें नींद घेर लेगी। नींद में और ध्यान में एक चीज कामन है, वह है रिलैक्सेशन, विश्रामपूर्ण होना। लेकिन आगे जाकर दोनों अलग हो जाते हैं। नींद में हम चले जाते हैं बेहोशी में और ध्यान में हम जाते हैं सुपर कांशियसनेस में, परम होश में। लेकिन शुरुवात एक सी है। तो यह काफी संभावना है कि जैसे ही हम रिलैक्स्ड होंगे, हमें नींद घेर लेगी। क्योंकि हमारी नींद अधूरी थी। इसलिए साधक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वह अपनी पूरी नींद लें फिर ध्यान में उतरें। और इसलिए सुबह–सुबह का समय बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि अभी–अभी आप नींद से जागे हैं, अब तुरंत तो नींद नहीं आएगी। और कुछ आसन, कुछ प्राणायाम, कुछ व्यायाम भी बहुत उपयोगी है।

सद्गुरु ओशो ने जो विधियां बनाई हैं– किसी में कंपन्न के द्वारा, किसी में प्राणायाम के द्वारा, किसी में जॉगिंग के द्वारा अपनी ऊर्जा जागरण का प्रयोग है। जब हमारी ऊर्जा जागी हुई है, तब हम सो नहीं सकते। तब जागरण बहुत स्वभाविक हो जाएगा। तो इन छोटी–छोटी चीजों का प्रयोग करने से नींद में जो समस्या उत्पन्न हो रही है, वह खत्म हो जाएगी। तब हम ठीक–ठीक जाग पाएंगे। नहीं तो आसो जी वाली कहानी हो जाएगी। ध्यान करने बैठेंगे और सो जाएंगे।

तीसरा प्रश्न : कई लोग जो डिप्रेशन के शिकार हैं, जो पूरी तरह डिप्रेश नहीं हैं, लेकिन लगता है कि किसी मानसिक तौर पर किसी चीज से जूझ रहे हैं। उनके घर वाले चाहते हैं कि यह ध्यान करें और इसमें कुछ परिवर्तन आए। लेकिन उसको आप ध्यान के लिए नहीं कह पाते। तो ऐसी स्थिति में उनके लिए बेहतर क्या होगा? ओशो की क्या कोई ऐसी ध्यान विधि है जिसके माध्यम से ऐसे लोगों को उबारा जा सके?

जो लोग मानसिक रोगी हो गए हैं, उनमें नॉर्मल इंटेलिजेंस लेवल भी नहीं रहा। उनका आईक्यू लेवल बहुत घट गया। एक प्रकार से वे मेंटली रिटार्डेट के बराबर हो गए। कारण जो भी रहा हो। उसके कारण फिजिकल हो सकते हैं, कुछ इमोशनल हो सकते हैं, कुछ साइकलॉजिकल हो सकते हैं। जो भी कारण रहा हो। अब वह व्यक्ति इस स्थिति में भी नहीं

है कि वह ध्यान की बात को समझ सके। हम जिस साक्षी भाव की, अमूर्च्छा की, अप्रमाद की बात कर रहे हैं, वह तो इंटलेक्चुअली इसको समझने के लिए भी उस हालत में नहीं है। उसको पकड़ पाना, प्रयोग कर पाना तो उसके लिए बहुत मुश्किल है। इसलिए इस प्रकार का प्रयास नहीं किया जाए। पहले वे अपनी अन्य चिकित्सा कराएं, जिससे डिप्रेशन दूर हो सके। जब वे सामान्य आईक्यू लेवल की स्थिति में आएंगे तब ध्यान की बात को समझ पाएंगे और उसका प्रयोग कर पाएंगे। उसके पूर्व उनसे अपेक्षा करना कि उनको ध्यान घट जाएगा, यह तो करीब–करीब ऐसा ही हुआ कि एक व्यक्ति लंगड़ा है और हम उससे कहें कि तुम ओलंपिक में दौड़ने जाओ। वह जो साधारण चाल भी नहीं चल सकता।

एक आदमी अंधा है, उसको दिखाई नहीं देता, कैटेरेक्ट हो गया है और हम उससे कहें कि तुम एक सुंदर पेंटिंग बनाओ। वह बेचारा कैसे बनाएगा? कोई आदमी बहरा हो गया है, उसके कान का इलाज कराना होगा। हम उससे कहें कि तुम संगीत साधो। उसको तो सुर ही पकड़ में नहीं आ रहे हैं, समझ नहीं आ रहे हैं।

तो जब कोई फिजिकल डिफैक्ट होता है, तब तो हमें समझ में आता है और हम उससे ऐसी चीज की अपेक्षा नहीं करते जो वह नहीं कर सकता। मानसिक बीमारी ऊपर से तो दिखाई नहीं दे रही है, भीतर मन में है। लेकिन बीमारी तो है, वह भी एक रोग है। हम उनसे ऐसी अपेक्षाएं करते हैं जो पूरी नहीं कर सकते। मैं देखता हूं कि दुनिया में करीब बीस प्रतिशत बच्चे इस हालत में हैं कि वे सामान्य स्कूल की पढ़ाई नहीं कर सकते हैं और मां–बाप उनको फोर्स कर रहे हैं कि सामान्य स्कूल की शिक्षा प्राप्त करो। टीचर्स उनको फोर्स कर रहे हैं। बड़ी मुश्किल में है, यह उनकी क्षमता के बाहर है। अगर शारीरिक कोई अपंगता होती तो हमें दिख जाती। लेकिन मानसिक अपंगता भीतर छुपी हुई है। अब तो उसे जांचने के सब उपाय हो गए हैं। मनोवैज्ञानिकों ने सारी विधियां निकाल ली हैं कि हम आईक्यू लेवल टेस्ट कर सकें किस बच्चे में कितना है? उसका अंदर क्या–क्या टैलेंट क्या है? लगभग बीस प्रतिशत बच्चों के साथ हम बहुत ज्यादती कर रहे हैं। वे तो सामान्य शिक्षा पाने लायक नहीं हैं। उनको तो कुछ स्पेशल ढंग से ही कुछ पढ़ाया जाए जैसे मेंटली रिटार्डेड बच्चों को पढ़ाया जाता है। तो थोड़ा–बहुत कुछ सीख पाएंगे। बहुत ज्यादा तो उनसे उम्मीद नहीं कर सकते हैं।

तो यहां मैं कहना चाहूंगा कि मानसिक रोगियों के लिए ध्यान नहहै। ध्यान तो एवरेज से भी ज्यादा इंटेलिजेंस लोगों के लिए है जो ात को समझ सकें और प्रयोग कर पाए। एवरेज से भी जो कम आक्यू लेवल है, वहां तो ात कभी नेगी नह। तो हमें व्यर्थ का प्रयास नहीं करना चाहिए।

चौथा प्रश्न : जैसे हम बात कर रहे हैं ओशो के योगदान के बारे में कि उन्होंने बहुत कुछ दिया है। तो एक चीज जो सामने निकल कर आती है कि ओशो के योगदान के रूप में नवसंन्यास भी है। ओशो का नवसंन्यास तथाकथित

पारंपरिक संन्यास से एकदम भिन्न है। कृपया बताएं कि नवसंन्यास क्या है, यह कब शुरु हुआ और कैसे हुआ इस पर थोड़ा प्रकाश डालें?

पुराना संन्यास यानि रिन्यूसिएशन, त्याग, पलायन, उत्तरदायित्व से दूर चले जाना। घर, परिवार, प्रेम संबंधों को तोड़ देना, आजीविका के साधन स्वयं अर्जित न करना दूसरों पर निर्भर हो जाना इसका नाम संन्यास था। सद्गुरु ओशो ने देखा कि आधुनिक युग में ये सबकुछ बड़े पैमाने पर कभी भी संभव न हो सकेगा। या तो संन्यास का यह फूल ही मुरझा जाएगा या फिर इसको एक नया रूप देना होगा। तो उन्होंने एक नई बात रखी कि संसार में रहते हुए परिवार, समाज सबकी जिम्मेदारी निभाते हुए अपनी आजीविका का साधन स्वयं कमाते हुए व्यक्ति साधना में डूबे, ध्यान में डूबे। घर में रहते हुए ध्यान किया जा सकता है, जंगल जाने की जरूरत नहीं है और कितने लोग जंगल जा सकेंगे? अब तो जंगल भी इतने नहीं बचे। अगर सारे लोग हिमालय चले जाएंगे तो हिमालय की बर्फ भी पिघल जाएगी और वहां भी बाजार लग जाएगा। क्यों न संसार में रहते हुए ही ध्यान किया जाए।

तो सद्गुरु ओशो ने नवसंन्यास एक नई दृष्टि दी। अब यहां पर रिन्यूसिएशन नहीं, यहां पर बात सेलिब्रेशन हो गई। सारी बात पलट गई। अब त्याग नहीं, अब तो जीवन का महाभोग। अब तो अपनी संवेदनशीलता को बढ़ाना है ताकि हम ज्यादा–से–ज्यादा शांति पूर्वक, आनंद पूर्वक, प्रेम पूर्वक जी सकें। अब घर, परिवार और संबंधों को छोड़ना नहीं है, समाज से पलायन नहीं करना है; बल्कि और ज्यादा प्रेम पूर्वक, करुणा पूर्वक जीना है। अब हमें खुशी–खुशी उमंग और उत्साह। नृत्य करते हुए, आनंद में डूबते हुए, गीत गाते हुए जीना है। पलायन नहीं। पहले था पलायन। अब हमें अपना उत्तरदायित्व और भी प्रेम पूर्वक तरीके से निभाना है। लोग सोचते हैं कि संन्यास को सरल बना दिया। ओशो ने संन्यास को बहुत कठिन बना दिया। पहले तो संसारी एक चीज को साध रहा था, संन्यासी दूसरी चीज को साध रहा था। दोनों के क्षेत्र अलग–अलग थे। ओशो ने कहा कि नहीं, तुम्हें दोनों साधने हैं। ध्यान भी करना है और भक्त भी होना है। परमात्मा को भी पाना है और संसार के जितने भी उत्तरदायित्व थे, वे भी और कुशलता पूर्वक निभाने हैं।

हिमालय की रमणीक गोद, कुल्लू मनाली में सन 1970 के सितंबर माह में 'कृष्ण : मेरी दष्टि में' नामक प्रवचनमाला के दौरान सदगुरु ओशो ने दीक्षा देना आरंभ किया। इसे विषय से संबंधित बहुतेरे सवालों के जवाब इस श्रृंखला में पढ़े या सुने जा सकते हैं। बाद में यह किताब 'कृष्ण स्मृति' शीर्षक से प्रकाशित हुई है। 'नव संन्यास क्या' नामक पुस्तक में भी इस बारे में ओशो की दृष्टि समझने जैसी है। संसार और संन्यास, धन एवं ध्यान, विज्ञान व धर्म, देह तथा आत्मा का स्वीकार व समन्वय; समृद्धि और समाधि के मध्य सेतु निर्माण का अनूठा कार्य ओशो ने किया।

संन्यासं शरणं गच्छामि। ओशो शरणं गच्छामि।।

प्रवचन 22

धर्म और अध्यात्म में भिन्नता

सद्गुरु ओशो की प्रसिद्ध किताब है 'पथ के प्रदीप' जिसमें उनके द्वारा लिखे गए सौ पत्रों का संकलन है, मैं एक पत्र पढ़कर सुनाता हूं–

' ईश्वर को जो किसी विषय या वस्तु की भांति खोजते हैं, वे नासमझ हैं। वह वस्तु नहीं है। वह तो आलोक, आनंद और अमृत की चरम अनुभूति का नाम है। वह व्यक्ति नहीं है कि उसे कहीं बाहर पाया जा सके। वह तो स्वयं की चेतना का ही आत्यंतिक परिष्कार है।

एक फकीर से किसी ने पूछा कि ईश्वर है तो दिखाई क्यों नहीं देता? उस फकीर ने कहाः ईश्वर कोई वस्तु नहीं है, वह तो अनुभूति है। उसे देखने का कोई उपाय नहीं है, वह तो अनुभव किया जाता है। किंतु, वह जिज्ञासु संतुष्ट नहीं दिखाई दिया। उसकी आंखों में प्रश्न वैसा का वैसा ही खड़ा था। तब, उस फकीर ने पास में ही पड़ा एक बड़ा पत्थर उठाया और अपने पैर पर पटक लिया। उसके पैर को गहरी चोट पहुंची और उससे रक्तधार बहने लगी। वह व्यक्ति बोलाः यह आपने क्या किया? इससे तो बहुत पीड़ा होगी? यह कैसा पागलपन है? वह फकीर हंसने लगा और बोलाः पीड़ा दिखती नहीं, फिर भी है। प्रेम दिखता नहीं, फिर भी होता है। ऐसा ही ईश्वर भी है।

जीवन में जो भी दिखाई पड़ता है उसकी तो सत्ता होती ही है, लेकिन जो नहीं दिखाई देता उसकी भी सत्ता होती है। और, दृश्य से उस अदृश्य की सत्ता बहुत गहरी है, क्योंकि उसे अनुभव करने को स्वयं के प्राणों की गहराई में उतरना आवश्यक होता है। तभी वह ग्रहणशीलता उपलब्ध होती है, जो कि उसे स्पर्श और प्रत्यक्ष कर सके। साधारण आंखें नहीं, उसे जानने को तो अनुभूति की गहरी संवेदनशीलता पानी होती है। तभी उसका आविष्कार होता है। और

तभी ज्ञात होता है कि वह बाहर नहीं है कि उसे देखा जा सकता, वह तो भीतर है, वह तो देखने वाले में ही छुपा है।

ईश्वर को खोजना नहीं, खोदना होता है। स्वयं में ही जो खोदते चले जाते हैं, खोदते चले जाते हैं वे अंततः उसे अपनी ही सत्ता के मूल-स्रोत और चरम विकास की भांति अनुभव करते हैं।

पहला प्रश्न : यह तो बहुत खूबसूरत बात है कि ईश्वर कहीं बाहर नहीं हमारे भीतर ही है। ओशो ने इसी बात को धर्म और आध्यात्मिकता के जरिए समझाया है कि मैं धर्म नहीं धार्मिकता सिखाता हूं। लेकिन जब भी धर्म की बात सामने आती है तो हमको हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई तथाकथित धर्म की छवि बन जाती है। तो वास्तविक तौर पर धर्म क्या है, आध्यात्मिकता से कैसे भिन्न है? दोनों कितने समान और एक दूसरे के विपरीत हैं कृपया इस बात पर थोड़ा प्रकाश डालें।

सामान्य भाषा में हम जिन्हें धर्म कहते हैं वे विभिन्न संगठनों के नाम हैं। बेहतर हो हम उन्हें संप्रदाय कहें। संप्रदाय का अर्थ होता है मार्ग, रास्ता। तो वह परम सत्य तो एक ही है, लेकिन उस तक पहुंचने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। हिमालय के सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट पर अगर पहुंचना है तो कोई भारत से कोई चलेगा तो उत्तर की दिशा में मुंह करके पहाड़ चढ़ेगा। चीन से कोई एवरेस्ट पर जाना चाहे तो दक्षिण दिशा में गति करेगा। दोनों की दिशाएं बिल्कुल भिन्न और विपरीत होंगी। नेपाल से अगर कोई चलेगा तो अलग, पाकिस्तान से चलेगा तो अलग, अफगानिस्तान से चलेगा तो अलग। दिशाएं भिन्न होंगी, मार्ग के दृश्य अलग होंगे, राह की कठिनाईयां अलग होंगी, उन्हें सुलझाने का उपाय अलग होगा। लेकिन अंततः जब वे एवरेस्ट पर पहुंच जाएंगे तो पाएंगे कि एक ही बिंदु पर पहुंच गए।

ठीक इसी प्रकार धर्म तो एक ही है उस परम सत्य को जानने की अनुभूति का नाम। किंतु उसके मार्ग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। तो मार्ग का पर्यायवाची शब्द, समानार्थी शब्द है संप्रदाय। तो बेहतर हो हम जिन्हें धर्म कह कर पुकारते हैं, उन्हें हम संप्रदाय समझें। वे रास्ते हैं, लेकिन वह परम सत्य एक ही है, जहां हमें पहुंचना है।

तो सद्गुरु ओशो ने इस दिशा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया। उन्होंने कहा कि धर्म की जगह धार्मिकता। उनकी एक किताब है 'आई टीच रिलीजिएस्नेस, नॉट रिलीजन' हिंदी में उसका अनुवाद मैंने और मां प्रिया ने किया है, उसका टाईटल रखा है कि 'मैं धार्मिकता सिखाता हूं, धर्म नहीं।' बहुत महत्वपूर्ण संदेश है उनका। एक छोटा सा शब्द बदल देने से सारी बात बदल जाती है। जैसे कहा कि ईश्वर व्यक्ति नहीं एक अनुभूति है, एक शक्ति है, एक गुणवत्ता है। नॉट ए पर्सनालिटी बट ए क्वालिटी। ठीक वैसे ही धर्म की जगह

धार्मिकता। तब हमें संगठनों का ख्याल नहीं आएगा। तब हमें ख्याल आएगी एक क्वालिटी की। अगर वह मेरे भीतर विराजमान आनंद है, वह मेरे भीतर प्रेम की अनुभूति है तब तो मुझे ग्रहणशील होना है, मुझे विकसित करना है अपने इन दिव्य गुणों को, वह मेरा ही परिष्कृत रूप होगा जिसको ओशो कह रहे हैं कि भगवान नहीं भगवत्ता। बड़ा महत्वपूर्ण है इस शब्द को बदलना। भगवान नहीं भगवत्ता। जब हम भगवान कहते हैं तो हमें अचानक याद आ जाती है बचपन में सुनी हुई बात की। बचपन में सुना है कि जिसने संसार को बनाया, जो दुनिया को चला रहा है और कहीं मिल जाए तो हम उसकी गर्दन पकड़ कर पूछें कि दुनिया बनाने वाले क्या तेरे मन में समाई? वह बचकानी बातें मन में आती है।

लेकिन जब हम कहते हैं– भगवत्ता, दिव्यता, डिविनिटी, गॉडलीनेस तो एक क्वालिटी जिसका बीज हमारे भीतर मौजूद है। अब साधना बस इतनी करनी है कि इस बीज को अंकुरित करना है, यह एक विराट वृक्ष बन जाए, पुष्पित, पल्लवित हो जाए, फल–फूल जाए ताकि हमारा पूरा जीवन भगवत्ता से ओत–प्रोत हो जाए। ठीक है ऐसे व्यक्ति को हम भगवान कह सकते हैं जो भगवत्ता से ओत–प्रोत है। व्यक्तिवाची शब्द की जगह गुणवाची शब्द ज्यादा महत्वपूर्ण है। सद्गुरु ओशो ने एक क्रांतिकारी मोड़ दिया– धर्म की जगह धार्मिकता, भगवान की जगह भगवत्ता जैसे शब्दों को रखा।

दूसरा प्रश्न : एक समय था जब ओशो ने अपने आपको या यूं कहें उनके संन्यासियों ने उन्हें भगवान कह कर संबोधित किया और बाद में उन्होंने वह 'भगवान' शब्द भी हटाया। तो यह जो सारी रचना है, जो खेल है, जो लीला है भगवान और ओशो की जिसको लोग कहते हैं कि वह तो अपने आपको भगवान कहते थे। तो यह भगवान क्या था और बाद में जब वह 'भगवत्ता' हटी और फिर वह 'ओशो' रह गए इस पर थोड़ा विचार प्रकट करें?

पारंपरिक रूप से 'भगवान' शब्द दो भिन्न–भिन्न परंपराओं में अलग–अलग ढंग से उपयोग किया गया है। उसके दोनों अर्थ समझ लें। एक 'भगवान' शब्द है जो हिन्दू परंपरा में ब्राह्मण संस्कृति में उपयोग किया जाता है और वही शब्द 'श्रमण संस्कृति' में बौद्धों और जैनों के द्वारा उपयोग किया जाता है। लेकिन उन दोनों के भावार्थ बिल्कुल अलग हैं। श्रमण संस्कृति में भगवान व्यक्ति की पूर्ण खिलावट का नाम है। उसकी कांशियसनेस जब सुपर कांशियसनेस के रूप में पूरी तरह खिल गई, सुगंधित हो गई, सुगंध बिखर गई उसको भगवान कहा है। जैन परंपरा में वे ईश्वर को नहीं मानते और न ही बौद्ध परंपरा में ईश्वर को मानते। लेकिन फिर भी 'भगवान' शब्द का उपयोग होता है बुद्ध के लिए, महावीर के लिए किस अर्थ में? वे तो मनुष्य थे। यह कोई संसार के बनाने वाले रचयिता तो नहीं थे। यहां

'भगवान' शब्द का अर्थ है भाग्यवान। वह सौभाग्यशाली व्यक्ति जिसने अपनी पूर्ण खिलावट को, अपनी सारी संभावनाओं को वास्तविकता में परिणीत कर लिया। जिसका जीवन भगवत्ता से ओत-प्रोत है।

हिन्दू परंपरा में ब्राह्मण संस्कृति में 'भगवान' शब्द का प्रयोग तो बिल्कुल अलग ढंग से हुआ है। अब यहां पर कंफ्यूजन खड़ा हो जाता है। ओशो उसका भगवान शब्द का प्रयोग स्वयं के लिए बौद्ध और जैन परंपरा के हिसाब से कह रहे थे। यह बिल्कुल अलग अर्थ है कि उन्होंने अपने भीतर की भगवत्ता को जाना। इसको हम एनलाइटेनमेंट कहें, आत्म ज्ञान कहें, ब्रह्म ज्ञान कहें। वे स्वयं भी उसके साथ एक हो गए। यह बिल्कुल अलग बात है। इसका उस संसार बनाने वाले भगवान से कोई लेना-देना नहीं है। तो हमारे ही देश में दो अलग-अलग अर्थ इस शब्द के हैं और ओशो ने जो प्रयोग किया है, वह इस भावार्थ में किया। फिर उन्होंने अपना नामकरण चेंज किया 'ओशो' किया। इसका अर्थ है 'ओशनिक एक्सपीरिएंस' अर्थात सागरीय अनुभव। एक महाकवि हुए हैं विलियम जेम्स। उनकी एक कविता है 'ओशनिक एक्सपीरिएंस' उससे यह शब्द लिया गया है। वह अनुभव कबीर साहब की भाषा में हम बड़े आसानी से समझ सकते हैं। कबीर साहब कहते हैं-

'हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय। बूंद समाना समुंद में, सो कत हेरी जाय।।'

खोजते-खोजते कबीर स्वयं ही खो गये। जैसे कोई बूंद समुद्र में गिरी और वह स्वयं ही समुद्र हो गई। अब अलग तो कोई बूंद बची नहीं। ठीक ऐसे ही आत्मा धीरे-धीरे खो जाती है और परमात्मा ही शेष रह जाता। वह जो इंडिविजुअल फीलिंग थी व्यक्ति होने की वह खो जाती है। पहले अहंकार जाता है, फिर अस्मिता जाती है, फिर उसकी रूपरेखा ही विलीन हो जाती है। कुछ भी नहीं बचता। जो बचता है वह समस्त अस्तित्व की भगवत्ता का विराट सागर है। तो इस ओशनिक एक्सपीरिएंस को जानने वाले को इस सागरीय अनुभव को उन्होंने 'ओशो' नाम दिया। तो यह बिल्कुल नया भावार्थ। ताकि पुरानी परंपरा के शब्द का कंफ्यूजन ही न रह जाए। वह बात ही खत्म हो जाए। इसलिए जानबूझ कर उन्होंने अपना नाम चेंज किया।

तीसरा प्रश्न - बूंद सागर हो जाए, बीज वृक्ष हो जाए और एक व्यक्ति अपने भीतर की आत्मिकता को, आनंद को उपलब्ध हो जाए इसके लिए ओशो ने बहुत सारे सूत्र दिए जिसमें से अगर हम टू द पाइंट बात करें तो वह है- द्रष्टा भाव। बार-बार जोर देते हैं कि द्रष्टा भाव होना चाहिए, स्वीकार भाव होना चाहिए, हियर एंड नाव। जब द्रष्टा भाव की बात आती है तो क्या मतलब होता है?

एक चीज तो हम सब जानते हैं दृश्य और दर्शक। हम टॉकिज में सिनेमा देख रहे हैं।

पर्दे पर एक दृश्य चल रहा है, एक कहानी चल रही है और हम दूर बैठे दर्शक हैं। सच पूछो तो हम वहां भी भूल जाते हैं कि हम दर्शक हैं। जब कहानी रूचिपूर्ण होती है तो हम उसमें इतने इनवाल्व हो जाते हैं कि हम खो ही जाते हैं। हमें अपने होने का एहसास नहीं रहता। वह तो जब द इंड आता है जन गण मन अधिनायक जय हे... तब पता चलता है कि फिल्म खत्म हो गई और अब घर भी जाना है। ठीक ऐसे ही संसार के इस दृश्य में हम इनवाल्व हो गए हैं और स्वयं को भूल गए हैं। यह आत्म विस्मरण की अवस्था है, गैर ध्यान की अवस्था है, नॉन मेडिटेटिव स्टेट है। ओशो जिसको द्रष्टा भाव या ध्यान कह रहे हैं उसका अर्थ है दृश्य को जानते हुए यह एहसास बना रहे कि मैं भी हूं। ठीक है इंद्रियों के माध्यम से मैं कुछ देख रहा हूं, कुछ सुन रहा हूं, कुछ स्पर्श में आता है, कुछ स्वाद सुगंध आती है भिन्न–भिन्न अनुभव होते हैं। लेकिन मेरे भीतर वह अनुभव करने वाला मौजूद है। यह आत्म स्मरण, सैल्फ रिमेंबरिंग बनी रहे। यह है द्रष्टा भाव। दूसरे अर्थ में इसको कह लें–डबल एरोड कांशियसनेस। सामान्यतः हमारी चेतना जब बहिर्गामी है तो केवल बहिर्गामी ही है। हम भीतर की भूल गए। डबल एरोड का मतलब है दो धारी तलवार। एक तीर बाहर की तरफ भी जा रहा है और एक तीर भीतर की तरफ भी है। बाहर के दृश्य का भी मुझे ख्याल है, मैं जो क्रिया कर रहा हूं, गति कर रहा हूं, सामने जो घटनाएं घट रही हैं उनका पूरा–पूरा होश है और भीतर यह भी होश है कि मैं हूं जो यह सब जान रहा है। तो इसको द्रष्टा भाव या साक्षी भाव कहा जाता है।

चौथा प्रश्न : द्रष्टा भाव कैसे साधा जाए? क्योंकि यह तो एक व्याख्या हो गई, परिभाषा हो गई। लेकिन हम किसी को समझाएं तो समझ कर उत्तर ले लेगा लेकिन वह उतरे कैसे?

इसके लिए जो विधि है, वह है सजगता। हम स्टार्टिंग सजगता से करेंगे। समझो मैं हाथ उठा रहा हूं, एक मूर्छित और यांत्रिक तरीके से ही उठ सकता है, रोज की आदत के अनुसार। मेरी स्टाइल हो सकती है कि बीच–बीच में हाथ उठाता हूं और एक हो सकता है कि यह सजगता पूर्ण एक कृत्य हो। तो स्टार्टिंग होगी सजगता से। हम जो भी कर रहे हैं, इसको हम तीन तलों में बांट सकते हैं। सबसे पहले अपनी शारीरिक गतिविधियां जो एक मैकेनिकल ढंग से चल रही थीं। अब उनको हम सजग ढंग से करें। चल रहे हैं, मॉर्निंग वॉक कर रहे हैं, बगीचे में घूम रहे हैं सजग तरीके से, खाना खा रहे हैं सजग तरीके से। एक यांत्रिक आदत नहीं, रोबोट की तरह नहीं। जब हम इसमें कुशल हो जाएं सजगता साधने में, तब इसके सूक्ष्म तल पर चलें मन के तल पर जहां विचार हैं, स्मृतियां हैं, कल्पनाएं हैं, योजनाएं हैं। बड़ी भीड़ है विचारों की। अब उसके प्रति सजग हों। इसमें सफल वही व्यक्ति हो पाएगा जो पहले तल पर साध चुका है। क्योंकि यहां सूक्ष्म मामला है, विचारों की भीड़ एकदम हमला करती है और आप खो जाते हैं, उसमें डूब जाते हैं। लेकिन जो व्यक्ति अपनी शरीर की क्रियाओं को सजग रूप से करने लगा वह सजग रूप से सोच भी पाएगा, वह सजग रूप से कल्पना कर पाएगा, वह सजग रूप से

याद कर पाएगा। और तब एक तीसरी घटना है और सूक्ष्म तल पर हम प्रवेश कर जाते हैं, वह है हमारे हृदय का जगत, भावनाओं का तल। भावनाएं विचार से भी ज्यादा सूक्ष्म हैं। अब उनके प्रति सतर्क, उनके प्रति सजग। जब ये तीन तल घट जाते हैं फिर हम वापस पहले वाले से शुरू करें। पहले सजगता, दूसरा आएगा द्रष्टा। अब हमको दूर से ऐसा लगेगा कि यह शरीर गति कर रहा है और मैं इसको जान रहा हूं।

एक सूफी विर्लिंग का प्रयोग होता है, सूफी दरवेश करते हैं। शरीर गोल-गोल घूम रहा है, यह प्रयोग बड़ा अद्‌भुद है। थोड़ी ही देर में पता चलता है कि शरीर अपने आप ही मूवमेंटम से घूम रहा है और हम दूर से इसका निरीक्षण कर रहे हैं। वह चेतना नहीं घूम रही, वह गतिमान नहीं है। शरीर गति कर रहा है। अभी थोड़ी दिनों पहले हमने आश्रम में एक मशीनीकरण कर लिया है सूफी दरवेश नृत्य का। क्योंकि जब हम स्वयं नृत्य करते हैं, गोल-गोल घूमते हैं तो उसमें एक सूक्ष्म कर्ता भाव बना रहता है कि मैं ही तो घूम रहा हूं, नहीं तो कैसे घूमना होगा? हमने इलेक्ट्रिक मशीन से घूमने का इंतजाम कर लिया है, जिसमें व्यक्ति बैठ जाता है या खड़ा हो जाता है और बटन ऑन कर दिया और अपने आप उसकी गति बढ़ती जाती है, बढ़ती जाती है। तो आधा मिनट आंख खोल कर देखते हैं, सब कुछ जब घूमता नजर आने लगा। आधा मिनट बाद फिर आंख बंद कर लेते हैं। अब इसमें तो हम कुछ कर ही नहीं रहे हैं तो कर्ता भाव का कोई सवाल ही नहीं है। कर्ता भाव और द्रष्टा भाव एक दूसरे के विपरीत हैं। हम जितना कर्ता भाव में होंगे उतना द्रष्टा भाव से चूक जाएंगे। जितना द्रष्टा भाव में आएंगे उतना कर्ता भाव दूर हो जाएगें।

तो जब मशीन हमें गोल-गोल घूमा रही है, तब कर्ता भाव का तो कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हम तो सिर्फ आंख बंद किए बैठे हैं या खड़े हैं। तो अब एकदम से पता चलता है कि जैसे मैं ऊपर से देख रहा हूं और नीचे से यह शरीर मशीन के ऊपर अपने आप घूम रहा है। एक मिनट में ही वह द्रष्टा भाव का अनुभव हो जाता है। तो आपने महत्वपूर्ण सवाल पूछा है कि कहां से शुरुआत करें? यही सोच कर हमने इस मशीन का निर्माण किया और बहुत अद्‌भुत इसके परिणाम हैं। कोई बिल्कुल नया साधक भी आता है, जो कहता है कि हम पढ़ तो लिए द्रष्टा भाव के बारे में, लेकिन हमें अनुभव नहीं हो रहा। आ जाओ एक मिनट में अनुभव हो जाएगा।

प्रश्न- मार्क्स ने धर्म को अफीम का नशा क्यों कहा?

क्योंकि 99 प्रतिशत ऐसा ही है। धर्म नशा ही है--सत्य की नहीं, सांत्वना की खोज है। एक बार किसी ने पूछा- धर्मगुरु की पहचान क्या है? मैंने जवाब दिया- उसे सोते हुए लोगों को उपदेश देने की मानसिक बीमारी होती है।

ग्राहक- ऐसी चाय पिलाओ, जिसे पीकर मन झूम उठे, दिल डोलने लगे, तन नाचने लगे। चाय वाला- माफ कीजिए साहब, हमारे यहां भैंस का दूध आता है, नागिन का नहीं। आप किसी धर्मस्थल में जाइए। जागना हो तो ओशो की शरण आइए। **जय ओशो।**

प्रवचन 22

स्त्री जगत को ओशो का योगदान

पहला प्रश्न : झोरबा–द–बुद्धा का क्या अर्थ है?

सबसे पहले तो इन दो शब्दों का अर्थ समझ लें। ये प्रतीकात्मक हैं। ऐसा समझे कि पूरब का दृष्टिकोण और पश्चिम का दृष्टिकोण 'झोरबा' एक ग्रीक नाटक का जिसके ऊपर फिल्म भी बनी है उसका पात्र है। जो शुद्ध रूप से संसारवादी है, भोगवादी है, पदार्थवादी है। खाओ–पिओ मौज करो यही उसका जीवन का ढंग है और बुद्ध प्रतीक हैं ध्यान के, अध्यात्म के, परलोक के। झोरबा प्रतीक है इस लोक का। अतीत में ये दो प्रकार की जीवन शैलियां एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत रहीं। सच पूछो तो मनुष्य जाति दो वर्गों में विभाजित रही है। एक वे जो संसार में जी रहे थे और उन्होंने आत्मा, परमात्मा को इंकार कर दिया था और दूसरे वे जो आत्मा और परमात्मा की खोज में लगे थे और उन्होनें संसार को माया कह दिया था और संसार छोड़ दिया था।

जो लोग अपने भीतर ध्यान में डूबने लगे थे, उन्होंने संसार को अपवित्र मान लिया था और जो संसार में जी रहे थे, उन्होंने मान ही लिया था कि अध्यात्म हमारे वश का नहीं, हमारी पहुंच के बाहर है। सद्‌गुरु ओशो ने एक नई दृष्टि दी। जैसा कि उन्होंने नवसंयास दिया। निश्चित रूप से संसार में जीने वाले व्यक्ति के सारे कांसेप्ट्स बदल जाएंगे। ओशो हमें दोनों अतियों पर जाने को नहीं कहते। न तो संसारवादी बनो, न अध्यात्मवादी बनो जैसा कि पुराने जमाने में था। वे कहते हैं– दोनों का समन्वय। इसी संसार में रहते हुए अध्यात्म को भी साधो। अपने जीवन को उसकी परिपूर्णता में जियो। शारीरिक तल पर, मानसिक तल पर, हार्दिक और भावनात्मक तल पर और आत्मिक तल पर भी। इनमें आपस में कोई विरोध नहीं है।

यदि शरीर और आत्मा में विरोध होता है तो चेतना इस शरीर में कैसे रहती? सद्‌गुरु ओशो कहते हैं कि देह तो मंदिर है, जिसमें आत्मा निवास कर रही है। निश्चित रूप से यह पवित्र है। आत्मा का मंदिर है। धार्मिक लोग कहते हैं कि परमात्मा की रचना है। यह परमात्मा के खिलाफ कैसे हो सकती है? आप स्वयं एक गीतकार हैं, गज़ल लिखते हैं प्यारी–प्यारी।

बताइए जो कविता आपने लिखी है, क्या वह आपको प्यारी नहीं है? प्यारी है तभी तो आपने लिखी, तभी तो वह रचना आपसे निकली है, आपसे बाहर आई है। एक पेंटर ने कोई पेंटिंग बनाई है, निश्चित रूप से यह रंग, यह डिजाइन उसको बहुत पसंद है। तभी तो उसने वह पेंटिंग बनाई। अगर यह संसार परमात्मा की रचना है, यह संसार परमात्मा के विपरीत कैसे हो सकता है? निश्चित रूप से परमात्मा को बहुत प्रिय है तभी तो उसने रचा, वरना यह संसार होता ही क्यों?

तो परमात्मा जिसे प्रेम करता है, हम उसे त्याग दें। यह तो विचित्र बात हुई। कितनी विचित्र बात है कि तथाकथित धार्मिक कहे जाने वाले लोग जो सोचते हैं कि हम प्रभु के रास्ते पर चल रहे हैं, वे प्रभु की रचना को ठुकरा देते हैं। यह परमात्मा का सम्मान हुआ कि अपमान हुआ? यह तो ऐसे हुआ जैसे– किसी पेंटर के पास पहुंचकर हमने कहा कि देखिए हम तो आपका सम्मान करते हैं; लेकिन आपकी पेंटिंग्स हमें अच्छी नहीं लगती है। अब यह पेंटर इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकता। किसी कवि के पास पहुंचकर हम कहें कि तुम्हारी कविता की किताबों में तो हम आग लगा देंगे, उनको पानी में डुबा देंगे। हम कवि का सम्मान करते हैं, कविता का नहीं। नहीं, वास्तव में तो कविता का सम्मान ही कवि का सम्मान है और पेंटिंग का सम्मान ही पेंटर का सम्मान है। फिर इसी प्रकार से हम देखें। संसार अगर प्रभु की रचना है, तो फिर रचयिता का सम्मान रचना का ही सम्मान है।

तो सद्‌गुरु ओशो ने एक बहुत ही प्रेमपूर्ण दृष्टि दी जहां सारा संसार एक पावन और पवित्र स्थल हो जाता है। अलग से किसी मंदिर, मस्जिद, तीर्थ स्थान जाने की जरूरत नहीं है। तुम अपने घर को ही मंदिर समझकर जियो। अपनी इस देह को ही मंदिर मान कर चलो। शरीर के लिए भी जो भी कृत्य कर रहे हो वह पूजा है, प्रार्थना है। तो झोरबा और बुद्धा का एक समन्वय स्थापित होगा। संसार से भागना नहीं है। एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ, समझ के साथ अपनी आजीविका उपार्जन करो। संसार के सारे सुख लो और साथ–साथ सच्चिदानंद भी है उसकी तरफ भी प्रयास करो। वह जो संसारवादी था, वह केवल दैहिक सुखों में ही सीमित हो गया था और जो अध्यात्मवादी था वह केवल आत्मा के आनंद और शांति की बात करता था। वह दैहिक सुखों को विरोधी बन गया था। वह त्यागी बन गया था, तपस्वी बन गया था, अपने आप को कष्ट देता था। ये दोनों ही बातें उचित नहीं थीं और ये दोनों ही प्रकार के वर्ग जीवन के पूर्ण आनंद को कभी नहीं पा सके। 'पथ के प्रदीप' नामक पत्र संकलन में सद्‌गुरु ओशो ने बहुत प्यारे–प्यारे पत्र लिखे हैं। एक पत्र आपको पढ़कर सुनाना चाहूंगा। यह संदेश इस प्रश्न के उत्तर में भी सहयोगी होगा।

'प्रकाश को अंधकार का पता नहीं। प्रकाश तो सिर्फ प्रकाश को ही जानता है। जिनके हृदय प्रकाश और पवित्रता से आपूरित हो जाते हैं, उन्हें फिर कोई हृदय अंधकारपूर्ण और अपवित्र नहीं दिखाई पड़ता।

जब तक हमें अपवित्रता दिखाई पड़ती है, जानना चाहिए कि उसके कुछ न कुछ अवशेष जरूर हमारे भीतर हैं। वह स्वयं के अपवित्र होने की सूचना से ज्यादा और कुछ नहीं है।

सुबह की प्रार्थना के स्वर मंदिर में गूंज रहे थे। आचार्य रामानुज भी प्रभु की प्रार्थना में तल्लीन से दिखते मंदिर की परिक्रमा कर रहे थे और तभी अकस्मात एक चांडाल स्त्री उनके सम्मुख आ गई। उसे देखकर उनके पैर ठिठक गए, प्रार्थना की तथाकथित तल्लीनता खंडित हो गई और मुंह से अत्यंत परुष शब्द फूट पड़ेः चांडालिन मार्ग से हट, मेरे मार्ग को अपवित्र न कर। प्रार्थना करती उनकी आंखों में क्रोध आ गया– और प्रभु की स्तुति में लगे ओठों पर विष। किंतु वह चांडाल स्त्री हटी नहीं, अपितु, हाथ जोड़कर पूछने लगीः स्वामी, मैं किस ओर सरकूं? प्रभु की पवित्रता तो चारों ही ओर है! मैं अपनी अपवित्रता किस ओर ले जाऊं? मानो कोई परदा रामानुज की आंखों के सामने से हट गया हो, ऐसे उन्होंने उस स्त्री को देखा। उसके वे थोड़े से शब्द उनकी सारी कठोरता बहा ले गए। श्रद्धापूर्ण भाव से उन्होंने कहा थाः मां, क्षमा करो। भीतर का मैल ही हमें बाहर दिखाई पड़ता है। जो भीतर की पवित्रता से आंखों को आंज लेता है, उसे चहुं ओर पावनता ही दिखाई देती है।

प्रभु को देखने का कोई और मार्ग मैं नहीं जानता हूं। एक ही मार्ग है और वह है– सब ओर पवित्रता का अनुभव होना। जो सबमें पावन को देखने लगता है, केवल वही– प्रभु के द्वार की कुंजी को उपलब्ध कर पाता है।

जो संसार और परमात्मा का विरोध था, सद्‌गुरु ओशो ने वह मिटा दिया। उन्होंने एक अद्‌भुद आध्यात्मिक क्रांति उन्होंने की और झोरबा–द–बुद्धा उसी का प्रतीक है।

दूसरा प्रश्न : स्त्री जगत में ओशो का क्या योगदान है, कृपया स्पष्ठ करने की कृपा कीजिए?

जैसे कि रामानुज और चाण्डालिन स्त्री की कहानी से स्पष्ट हो जाता है। सद्‌गुरु ने इसी बात को सारी मनुष्य जाति पर लागू किया। अतीत में पुरुषों ने स्त्रियों को बहुत दबाकर रखा था। हर प्रकार से गुलाम बनाकर रखा था। उन्हें कोई आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक किसी प्रकार की कोई आजादी नहीं थी। आध्यात्मिक तो बिल्कुल भी नहीं। महिलाएं बस पूजा–पाठ, क्रियाकाण्ड करने में लीन रहती थीं और उसी को धर्म समझती थीं। पण्डित–पुरोहितों से कथा–किस्से सुनना ही उनके लिए धर्म था। पहली बार ओशो ने

स्त्रियों को भी मौका दिया कि वे आध्यात्मिक साधना करें। संसार में अन्य कार्यों में जुटें और अपना योगदान दें।

हम अगर अतीत का इतिहास उठाकर देखेंगे तो ओशो उस पर इस प्रकार कमेंट करते हैं कि वह मुख्य रूप से पुरुषों का ही इतिहास है। विश्व में पिछले तीन हजार साल में पंद्रह हजार युद्ध हुए। यह पुरुषों के द्वारा रची हुई कहानी है। सुंदर तो नहीं, बड़ी कुरूप और भद्दी। बहुत खून-खराबा, साम्प्रदायिक दंगे, मार-काट बस यही पुरुषों ने किया है। स्त्रियों के कोमल गुण बिल्कुल ही उपेक्षित रह गए क्योंकि स्त्रियों को कभी अवसर ही नहीं दिया गया। उनके भीतर की ममता, उनके भीतर की करुणा, उनके भीतर की दया की भावना बहुत कोमल गुण है। उनको कभी संसार में मौका नहीं दिया। यदि उनको भी बराबरी से मौका मिल जाए तो वे इस संसार की कहानी पलट सकती हैं। विश्व युद्ध के खिलाफ कोई शांति के आंदोलन छोड़ने की जरूरत नहीं है, उन आंदोलनों से कुछ नहीं होगा। वे आंदोलन खुद ही अपने आप में उग्रवाद जैसे नजर आते हैं। स्त्रियों को अगर अवसर मिल जाए तो संतुलन बन जाएगा, बैलेंस बन जएगा।

तो जैसे अभी-अभी हम बात कर रहे थे- झोरबा-द-बुद्धा की, संसार और अध्यात्म का समन्वय। ठीक वैसे ही ओशो ने एक और समन्वय खोजा- स्त्री और पुरुष ऊर्जा का समन्वय, एक संतुलन। अभी तक संतुलन नहीं रहा। इस दुनिया में कुछ समाज हैं, कहीं-कहीं हमारे देश में भी कुछ जगह हैं जहां स्त्री प्रधान सोसायटी है, मातृ प्रधान। लेकिन उनकी गिनती थोड़ी-सी है। अगर आप उनकी हिस्ट्री देखेंगे तो आप पाएंगे कि उन समाजों में युद्ध नहीं हुए, दंगे-फसाद नहीं हुए, खून-खराबें नहीं हुए। वहां सैद्धांतिक और भौतिक बातों पर वाद-विवाद नहीं होते हैं।

सद्‌गुरु ओशो का मानना है कि न यह प्रमुख हो, न वह प्रमुख हो, बस एक संतुलन हो। तो परमात्मा ने जैसा बनाया है स्त्री-पुरुष की गिनती दुनिया में बराबर है। क्यों न यह समान रूप से कार्य करें? तो सद्‌गुरु ओशो ने अपने आश्रम व्यवस्था में, कम्यून व्यवस्था में स्त्रियों को प्रधानता दी। हां, पहले बात एक अति से दूसरे अति पर गई। वह ऐसे ही जैसे पैंडुलम एक तरफ से दूसरी तरफ जाता है। तो कुछ साल ऐसे रहे जब पुरुषों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता का मौका नहीं था कि उनको कोई अधिकार नहीं दिया गया था। सारे अधिकार और सारे ऊंचे पद स्त्रियों को दिए गए थे। ओशो ने कहा कि यह संतुलन करना जरूरी है। स्त्रियां इतने हजारों साल से दबी हैं। उनको थोड़ा सा अतिरिक्त मौका देना होगा तभी वे उभर पाएंगी और उनके भीतर की छिपी हुई प्रतिभा निखर पाएगी। फिर हम देखते हैं कि पेंडुलम दूसरी तरफ चला गया। आप सबको रजनीशपुरम की कहानी तो पता ही होगी। शीला और उसकी बीस सहयोगियों की कहानी। वह पूरी स्त्रियों की टीम थी। एक अति से

दूसरी अति पर बात चली गई और ओशो ने कहा यह स्वाभाविक था ऐसा होना जरूरी था। अब मध्य में आया जा सकता है। और तब उन्होंने जो व्यवस्था का निर्माण किया वह संतुलित था आधे पुरुष और आधी स्त्रियां। ताकि हृदय और बुद्धि, भाव और विचार इनका एक संतुलन स्थापित हो सके। तो सद्‌गुरु ओशो ने स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए बहुत कुछ कहा है। उनकी कुछ किताबें सिर्फ इसी प्रकार के प्रवचनों का संकलन है। उनमें से एक प्रमुख किताब है– 'नारी और क्रांति' उसका मैं जिक्र करना चाहूंगा।

तीसरा प्रश्न : ओशो बेशक दैहिक रूप से अपने शरीर में नहीं हैं, फिर भी सीडी के रूप में, पुस्तकों के रूप में जन–जन तक पहुंच रहे हैं। ओशो का जो योगदान है वह बच्चों के लिए भी है, पुरुष के लिए भी है, समाज के लिए भी है, धर्म पर भी है, गुरुओं पर भी है। तो उस योगदान के बारे में आप कुछ प्रकाश डालें?

उस विराट साहित्य को मैं दो हिस्सों में बांट कर रखना चाहूंगा ताकि आने वाले भविष्य में पाठकों के लिए स्पष्ट रहे। एक है शाश्वत सत्य और दूसरा है सनातन सत्य। जो व्यक्ति अपने भीतर स्वयं जानता है, वह तो मौलिक अनुभूति से निष्पन्न होता है। और दूसरा है तात्कालिक सत्य, जो समाज की, देश की, विश्व की परिस्थितियों को देखते हुए उनके समाधान खोजे जाते हैं। वे प्रश्न और समस्याएं भी तात्कालिक हैं और हल भी तात्कालिक हैं। इन दोनों बातों को अलग–अलग देखा जाए, परखा जाए वरना इन छः सौ पचास किताबों में लगभग साढ़े छः हजार प्रवचन हैं उनमें खोजना मुश्किल हो जाता है कि हम कहां से शुरुआत करें? तो ओशो ने राजनीति पर भी अपनी नई दृष्टि दी, समाज व्यवस्था पर भी, आश्रम व्यवस्था पर भी, संन्यास के ऊपर भी, बच्चों के पालन–पोषण पर, स्त्री की स्वतंत्रता पर और शिक्षा प्रणाली पर उन्होंने अपनी क्रांतिकारी दृष्टि दी। जीवन का कोई भी विषय अछूता नहीं रहा। निश्चित रूप से इसमें अध्यात्म सर्वाधिक प्रमुख है। सबसे ज्यादा किताबें उनकी जो समर्पित हैं, वे अध्यात्म के लिए हैं, ध्यान के लिए हैं, भक्ति के लिए हैं, तंत्र साधना के लिए हैं। अब हमें दो हिस्सों में बांट कर देखना चाहिए। कुछ है सनातन सत्य जो पहले भी सत्य था, आज भी सत्य है और सदा–सदा वैसा ही सत्य रहेगा। बाकि बातें तात्कालिक हैं। परिस्थितियां बदल जाती हैं, वे बातें भी बदल जाती हैं। उनको हम जोर से न पकड़ लें, नहीं तो एक जिद्द पैदा होती है। विशेषकर शिष्यों में, अनुयायियों में और वे उन बातों को भी जोर से पकड़ लेना चाहते हैं और कहते हैं कि बस यही सच है और इसके अलावा और कुछ सच नहीं। नहीं, वे चीजें तो बदल जाएंगी। हां, ध्यान के बारे में जो गुरु ने

कहा है वह परम सत्य है। परमात्मा के संबंध में जो कहा है, सच्चिदानंद के बारे में जो कहा है, साधना के जो सूत्र दिए हैं, अंतर्यात्रा की जो बात की है वह सनातन सत्य है। उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होगा। लेकिन बाहरी व्यवस्था संबंधी जो बातें कही हैं, वे तो प्रत्येक दिन परिवर्तित होती रहेंगी।

समझो, उन्होंने जनसंख्या विस्फोट के ऊपर प्रवचन दिया और परिवार नियोजन के लिए विशेष आग्रह किया। अब अगर यह बात मान ली जाए। मान लो कि ओशो की बात पूरी हो गई और सचमुच में सारे संसार में परिवार नियोजन की व्यवस्था वैसी आ गई जैसी वह चाहते थे। तब यह समस्या ही खत्म हो गई और तब इस समाधान का भी कोई उपयोग आगे के लिए नहीं रह जाएगा। यह पुस्तिका व्यर्थ हो जाएगी भविष्य के लिए। अगर वह समस्या हल हो गई तो। राजनीति के बारें में जैसा उन्होंने कहा है कि डेमोक्रेसी के आगे मैरिटोक्रेसी, गणतंत्र की जगह गुणतंत्र नाम दिया। अगर वह कभी स्थापित हो गया, इसके पीछे जितनी व्यवस्थाएं हुई हैं चाहे वह साम्यवाद हो, चाहे राजशाही तंत्र हो, तानाशाह हो, प्रजातंत्र हो वे सब बातें व्यर्थ हो जाएंगी, उनका कोई मतलब नहीं रह जाता।

एक उदाहरण से समझ लीजिए कि ओशो के समय महात्मा गांधी का विचार बहुत प्रमुख था। नया-नया देश आजाद हुआ था और गांधीवादी विचार धारा देश पर छाई हुई थी। सद्गुरु ओशो ने पहली बार क्रांतिकारी आवाज उठाई और गांधीवाद के खिलाफ तर्क प्रस्तुत किए। उनकी चार किताबें सिर्फ इसी पर डिवोटेड हैं। निश्चित रूप से उन तर्कों का कोई भी जवाब नहीं हो सकता और ओशो ने जो दृष्टि दी वह देश के लिए प्रगतिशील थी और अंततः उसी का पालन भी हुआ। लेकिन अब समय बीत गया। अब गांधीवाद खत्म हो चुका है। इसमें सद्गुरु ओशो का भी बहुत बड़ा योगदान है। आज हमारा देश जिस वैज्ञानिक प्रगति की ओर बढ़ रहा है, वह गांधीवाद के बिल्कुल खिलाफ है। सद्गुरु ओशो का इसमें बड़ा योगदान है। निश्चित रूप से अब वे किताबें आउट ऑफ कांटेक्स्ट हो जाएंगी। अब उनकी कोई जरूरत नहीं, क्योंकि वह समस्या ही नहीं रहीं। तो ओशो के साहित्य को मैं ऐसे दो हिस्सों में विभाजित करना चाहता हूं।

अंतिम प्रश्न- ध्यान भागते-दौड़ते मन को कैसे रोकूं?

बाहर के जगत की सारी उपलब्धियां बड़े श्रम से, बामुश्किल, भाग-दौड़कर मिलती हैं। इसलिए मन को भाग-दौड़ की आदत पड़ गई है। सुनो यह लतीफा-

एक व्यक्ति- बड़ा सुंदर मोबाइल है आपका, कहां से खरीदा? दूसरा- खरीदा नहीं, मुझे तेज दौड़ में मिला है। पहला- अच्छा, रेस प्रतियोगिता में कितने लोग शामिल थे? दूसरा- केवल तीन लोग थे- मैं खुद, मोबाइल का मालिक, और एक बेचारा पुलिस वाला।

भीतरी सत्य उपलब्ध होता है- ठहरने से। विश्राम में आत्मा का अनावरण होता है। इसे समझो। समझ से रूपांतरण होगा। **जय ओशो।।**

प्रवचन 23

संभोग से समाधि की ओर

सद्‌गुरु ओशो के द्वारा लिखित पत्रों के संकलन 'पथ के प्रदीप' से एक पत्र सुनाता हूं।

'आनंद क्या है? सुख तो एक उत्तेजना है, और दुख भी। प्रीतिकर उत्तेजना को सुख और अप्रीतिकर को हम दुख कहते हैं। आनंद दोनों से भिन्न है। वह उत्तेजना की नहीं, शांति की अवस्था है। सुख को जो चाहता है, वह निरंतर दुख में पड़ता है। क्योंकि, एक उत्तेजना के बाद दूसरी विरोधी उत्तेजना वैसे ही अपरिहार्य है, जैसे कि पहाड़ों के साथ घाटियां होती हैं, और दिनों के साथ रात्रियां। किंतु, जो सुख और दुख दोनों को छोड़ने के लिए तत्पर हो जाता है, वह उस आनंद को उपलब्ध होता है, जो कि शाश्वत है।

एक कहानी है कि किसी व्यक्ति का एकमात्र पुत्र गुम गया था। उसको गुम हुए वर्षों बीत गए थे। सब जगह खोज-बीन करके के पश्चात आखिर वह नहीं मिला और परिवार वाले धीरे-धीरे इस घटना को ही भूल गये।

तब कुछ वर्षों बाद उसके द्वार एक अजनबी आया और उसने कहाः मैं आपका पुत्र हूं। आप पहचाने नहीं? पिता प्रसन्न हुआ। उसने घर लौटे पुत्र की खुशी में मित्रों को प्रीति भोज दिया, उत्सव मनाया और उसका स्वागत किया। लेकिन, वह तो अपने पुत्र को भूल ही गया था और इसलिए इस दावेदार को पहचान नहीं सका। पर थोड़े दिन बाद ही पहचानना हो ही गया! वह व्यक्ति उसका पुत्र नहीं था और समय पाकर वह उसकी सारी संपत्ति लेकर भाग गया। फिर, ह्वग-पो कहता था कि ऐसे ही दावेदार प्रत्येक के घर आते हैं, लेकिन बहुत कम लोग हैं, जो कि उन्हें पहचानते हों। अधिक लोग तो उनके धोखे में आ जाते हैं और अपनी जीवन संपत्ति खो बैठते हैं। आत्मा से उत्पन्न होने वाले वास्तविक आनंद की बजाय, जो वस्तुओं और विषयों से निकलने वाले सुख को ही आनंद समझ लेते हैं, वे जीवन की अमूल्य संपदा को

अपने ही हाथों नष्ट कर देते हैं।'

स्मरण रखना कि जो कुछ भी बाहर से मिलता है, वह छीन भी लिया जाएगा। उसे अपना समझना भूल है। स्वयं का तो वही है, जो कि स्वयं में ही उत्पन्न होता है। वही वास्तविक संपदा है। उसे न खोजकर जो कुछ और खोजते हैं, वे चाहे कुछ भी पा लें, अंततः वे पाएंगे कि उन्होंने कुछ भी नहीं पाया है और उल्टे उसे पाने की दौड़ में वे स्वयं जीवन को ही गंवा बैठे हैं।

पहला प्रश्न : हम ओशो के योगदान के बारे में बात कर रहे हैं तो हम कैसे उस पुस्तक को भूल सकते हैं जो परम आनंद और काम वासना की बात करती है और वह है– 'संभोग से समाधि की ओर'। यह पुस्तक क्यों इतनी चर्चा का विषय रही और उस पुस्तक के जरिए ओशो क्या कहना चाहते हैं?

यह बड़ी प्राचीन साधना पद्धति रही है। तंत्र विद्या हजारों–हजारों साल से हमारे देश में प्रचलित रही है। कोर्णाक और खजुराहो के मंदिर उसके प्रमाण हैं कि बड़े पुराने समय से तंत्र साधना होती रही है। भगवान शिव ने देवी पार्वती को जो ध्यान की विधियां कही हैं 'विज्ञान भैरव तंत्र' नामक किताब में वे संकलित हैं। उसमें यह विधि आती है कि संभोग के समय ध्यान को साधो। जागरूकता और संवेदनशीलता को बढ़ाओ। जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं ध्यान यानी होश, अवेयरनेस। अब हम इसको किस चीज के साथ जोड़ते हैं। किसी भी चीज के साथ जोड़ सकते हैं। चाय पीना और पानी पीना भी ध्यान हो सकता है, भोजन का स्वाद भी हम होशपूर्वक लेंगे तो वह भी ध्यान हो जाएगा, हम बैठ कर आपस में चर्चा कर रहे हैं यह ध्यानपूर्ण हो सकता है और मूर्च्छापूर्ण भी हो सकता है। जीवन के हर छोटे–छोटे कृत्य को, जिसमें हर व्यक्ति जा ही रहा है उनको ध्यानपूर्ण बनाया जा सकता है।

यदि अध्यात्म को, ध्यान को सर्वव्यापी करना है तो जरूरी है उसमें सब कुछ समाहित होना चाहिए। वह 24 घंटे में से एक घंटा अलग निकालकर, बैठकर आंख बंद करके लगाने वाला ध्यान न हो। ठीक है उदाहरण के वह ध्यान के लिए उपयोगी हो सकता है। लेकिन वह चौबीस घंटे हमारे सारे क्रियाकलापों पर फैल जाने चाहिए और जब सद्‌गुरु ओशो ने अपने शिष्यों को झोरबा–द–बुद्धा होने के लिए कहा, संसार और अध्यात्म का समन्वय स्थापित करने के लिए कहा तो आवश्यक था कि उनकी साधना पद्धतियां भी भिन्न होंगी। त्याग करके, जंगल में जाकर, गुफा में बैठकर आंख बंद करके ध्यान लगाने की बात तो वह नहीं कह सकते। तो फिर ध्यान कहां होगा, कैसे होगा? यहीं संसार में ही होगा, हमारी सामान्य गतिविधियों में होगा। निश्चित रूप से उसमें काम वासना भी एक प्रमुख बात है। सुख के साथ ध्यान को जोड़ना बहुत महत्वपूर्ण बिंदु है।

अतीत में दुख के साथ, त्याग के साथ, कष्ट के साथ ध्यान को जोड़ा गया था जो कि

बिल्कुल गलत दिशा में चला गया। भगवान शिव इससे राजी नहीं हैं, महर्षि पतंजलि इससे राजी नहीं हैं। लेकिन हैरानी की बात है कि तथाकथित साधु-संन्यासी उन सद्गुरुओं के द्वारा बताए गए रास्ते से बिल्कुल विपरीत ही चले गए। सद्गुरु ओशो ने पुनः शिव की बात को, गोरख नाथ की बात को, कबीर की बात को, महावीर और बुद्ध की बात को फिर से स्थापित किया। कबीर का एक वचन आपको याद दिलाऊं-

'दुख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, सो दुख काहे को होय।।'

सुख-दुख और आनंद इसको हम एक ट्राईंगल की तरह समझें। इसके नीचे के दो कोण हैं सुख और दुख। प्रीतिकर उत्तेजना और अप्रीतिकर उत्तेजना। ये तो हमारे जीवन में अपने आप घट ही रहे हैं रोज-रोज। तीसरा कोण ऊपर और सर्वोपरी इन दोनों के बियांड अतिक्रमण करता हुआ है और वह है शांति का, आनंद का, निरुत्तेजना का। सामान्यतः जब हम दुखी होते हैं, तब हम शांत होने की कोशिश करते हैं। तब हम सोचते हैं कि ध्यान सध जाए। तब संभव नहीं है। उस त्रिकोण से, उस नीचे वाले कोण से ऊपर की ओर जाना संभव नहीं है। ज्यामेट्री के हिसाब से तीनों कोण बराबर की दूरी पर हैं। लेकिन उस तरफ से जाने का दरवाजा नहीं है। सुख की तरफ से दरवाजा है। तो सुख के साथ अगर होश की साधना जोड़ दी जाए तो हम आनंद में बहुत ही आसानी से पहुंच सकते हैं।

तो यह है तो पुरानी परंपरा। लेकिन सद्गुरु ओशो ने इसको पुनः स्थापित किया क्योंकि लोग इसको भूल चुके थे। त्याग, तपस्या के चक्कर में पड़कर लोगों ने दुख के साथ, कष्ट के साथ, तपस्या के साथ ध्यान को जोड़ लिया था और इसलिए धीरे-धीरे सामान्य जन मानस में ध्यान के प्रति ही चिढ़ उत्पन्न हो गई थी, अरूचि पैदा हो गई थी। काश हम उसको सुख के साथ जोड़ें, इंद्रियों के संवेदनशीलता बढ़ाने के संग जोड़ें। तो इस किताब में सद्गुरु ओशो ने यही कहा है कि काम वासना में भी ऐसे उतरो जैसे कोई पूजा का कृत्य हो। अपनी संवेदनशीलता को परिपूर्ण रूप से जागृत करके। ध्यान यानी होश, होश हम कहीं भी साध सकते हैं और सुख में होश साधना बड़ा प्रीतिकर है, रुचिकर है। अंततः तो हम उस अनुत्तेजित अवस्था में पहुंच जाएंगे जहां पर शांति और सच्चिदानंद है। लेकिन सुख से होकर जाना बहुत आसान है।

इस त्रिकोण को एक दूसरी उपमा से समझ लें। स्वर्ग, नर्क और मोक्ष। स्वर्ग से होकर हम मोक्ष में जा सकते हैं, नर्क से होकर मोक्ष में नहीं जा सकते हैं। जिस आदमी में इतनी भी बुद्धि नहीं है जो नरक में और दुख में जी रहा है, स्वर्ग में नहीं आ पा रहा वह आदमी तो ऊपर उठ ही नहीं पाएगा। जो हॉरिजॉन्टल मूवमेंट तक नहीं कर पा रहा वह वर्टिकल यात्रा कैसे करेगा? लेकिन जो समझदार हैं वे सुख से ऊपर उठ सकते हैं। जो दुख से सुख में आ गया, जो नरक से स्वर्ग में आ गया यह ऊपर भी जा सकेगा, ऊपर भी उठ सकेगा। क्योंकि अंततः सुख भी विषाद पैदा करता है। सुख से भी बोर्डम और ऊब पैदा होती है। तो जल्दी ही

वह समय आता है जब व्यक्ति उसके भी पार जाना चाहता है।

तो सद्गुरु ओशो कहते हैं कि जीवन के सुखों को त्यागना नहीं है। हां, उनको भोगते हुए जागो। सिर्फ भोगने की बात नहीं कर रहे हैं, जागे हुए भोगो। तो अतीत में दो प्रकार के लोग थे, जिसको हम कहें झोरबा। वह सोए–सोए भोग रहा था, और एक था बुद्धा किस्म के लोग या कम–से–कम जो अपने आप को समझते हैं कि बुद्ध के परंपरा के हैं, अध्यात्मवादी हैं। वह भोग को हीं छोड़कर भाग गए थे। तो एक भगोड़े थे और एक सोए–सोए भोग रहे थे। दोनों ने हीं आनंद को नहीं पाया। काश, हम सुख के साथ जागरण को जोड़ सकें।

तो सद्गुरु ओशो की देशना है भोगो, मगर जागे हुए। और तब एक अद्भुद घटना घटती है, हम उस भीतर की शांत परमानंद की दशा में पहुंच जाते हैं और तब बाहर का भोग गौण हो जाता है। शरीर के तल की वह घटना फिर आर्कषक नहीं रह जाती है। क्योंकि हमने उससे भी बड़ी संपदा अपने भीतर पा ली। तो काम वासना का आर्कषण भी तभी तक है, जब तक हमने उससे और ज्यादा महत्वपूर्ण कुछ भी नहीं जाना।

सामान्यतः लोगों के जीवन में या तो काम सुख या स्वाद सुख ये दो ही प्रमुख हैं। लेकिन जब हमने और गहरे तत्व को जान लिया तब ये दोनों बातें फीकी पड़ जाती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि उसने त्याग कर दिया। लेकिन अब उसके जीवन में ये बातें गौण हो गईं नंबर दो पर हो गईं। उसने तो मूल स्रोत को, आनंद को जान लिया है जो अपने भीतर है। अब वह दूसरों के ऊपर डिपेंडेंट भी नहीं रह जाएगा। काम वासना में दूसरे पर निर्भरता है, एक प्रकार की गुलामी है। अतः सद्गुरु ओशो ने उसमें यही विधि समझाई है जो तंत्र की पुरानी विधि है कि भोगो मगर जागे हुए। और अंतिम लक्ष्य है इससे वास्तविक ब्रह्मचर्य घटित होगा। जिस व्यक्ति ने अपने भीतर के परमानंद को जान लिया है, उसके जीवन से काम वासना तिरोहित हो जाएगी।

दूसरा प्रश्न : ध्यान की जो ओशो ने इतनी सारी विधियां दी हैं, यदि कोई नया व्याक्ति इन विधियों को शुरु करना चाहे तो कहां से शुरु करे ताकि उसकी सही दिशा में गति हो सके?

बहुत महत्त्वपूर्ण उठाया है। विशेषकर आजकल इंटरनेट के जमाने में लोग कहीं से कुछ भी इंफार्मेशन प्राप्त कर लेते हैं और उसका उपयोग करना शुरू कर देते हैं। यह करीब–करीब ऐसी विक्षिप्तता हो गई है कि कोई आदमी मेडिकल स्टोर में पहुंच जाए और बड़ा मेडिकल स्टोर है जिसमें एलोपैथिक दवाइयां हैं, आयुर्वेदिक भी हैं, यूनानी भी हैं सब कुछ हैं और वहां जाकर कुछ भी उठा कर खाने लगे। हम भली–भांति जानते हैं कि इससे लाभ होने की बजाय कुछ नुकसान हीं होगा। लाभ की तो कोई संभावना नहीं है। हमें एक विशेष प्रस्क्रिप्शन लेकर ही जाना होगा जो हमारी बीमारी के अनुकूल है। हम पर वही औषधि काम करेगी, उसी से लाभ होगा।

इसलिए कहा जाता है कि बिना मार्ग–दर्शन के आध्यात्मिक औषधियों का सेवन मत करना। उससे हानि की ज्यादा संभावना है और यही आज की दुनिया में हो रहा है। इसलिए मैंने कहा कि सदेव जी ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल उठाया है। हमें क्या करना, कब करना, कब नहीं करना? सदगुरु ओशो ने खूब विस्तार से ये बातें समझाई हैं। मुख्य रूप से मैं दो किताबों की चर्चा करना चाहूंगा– एक है 'ध्यान विज्ञान' और दूसरी है 'ध्यान योग प्रथम एवं अंतिम मुक्ति' अंग्रेजी में इसका नाम है 'द ऑरेंज बुक' और दूसरी है 'मेडिटेशन द फर्स्ट एंड लास्ट फ्रीडम'। इसमें सद्गुरु ओशो ने छोटी–छोटी बातें जो ध्यान में साधक के लिए भूमिका हेतु अनिवार्य है वह समझ पहले दी है फिर ध्यान की विधियों को डिवाइड किया है अलग–अलग खंडों में। सुबह के समय के लिए अलग ध्यान है, दोपहर के पूर्व अलग ध्यान है, दोपहर के पश्चात् अलग ध्यान है, संध्या समय का अलग ध्यान है, रात्रि का अलग ध्यान है, सोते समय करने के लिए अलग विधियां हैं, कभी रात को नींद खुल जाए अनायास तो उस समय ध्यान करके पुनः सो जाओ वे विधियां अलग हैं। इन सबको अगर हमने घाल–मेल कर दिया तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। सद्गुरु ओशो ने उसके उदाहरण भी दिए हैं।

एक बार श्रीलंका से कोई युवा भिक्षु उनके पास आया। उसको तीन साल से नींद नहीं आ रही थी। सब प्रकार की दवाईयां करके वह हार गया था। कुछ काम नहीं करता था और उसकी हालत करीब–करीब पागल जैसी हो गई थी। ओशो ने कहा कि तुम बौद्ध भिक्षु हो, क्या तुम विपस्सना करते हो? उसने कहा कि हां, विपस्सना करते हैं। ओशो ने पूछा किस समय करते हो, कब करते हो, कैसे करते हो, कितनी देर करते हो? उसने ओशो को सारा कुछ बताया। ओशो ने कहा कि यह मार्ग–दर्शन तुमको किसने दिया? यह तो बिल्कुल गलत है। उसने कहा कि जिन्होंने मार्ग–दर्शन दिया है वह बहुत बड़े प्रकाण्ड पंडित हैं बौद्ध साहित्य के। उन्होंने कई किताबें लिखी हैं। ओशो ने कहा कि लिखी होंगी कई किताबें लेकिन लगता है कि उन्होंने विपस्सना ध्यान कभी किया ही नहीं।

विद्वत्ता काम नहीं आएगी यहां तो अनुभव काम आएगा। ओशो ने उससे कहा कि तुम तीन महीने के लिए विपस्सना बिल्कुल बंद कर दो। क्योंकि तुम गलत समय पर कर रहे हो। यह विधि सुबह करने की है या ज्यादा–से–ज्यादा दोपहर के पूर्व तक। उसके बाद तो करना ही नहीं है। क्योंकि इसमें गहन जागरण सध जाएगा जो तुम्हारी निद्रा में बाधा बन जाएगा। उल्टा ही परिणाम होगा जब तुम रात भर सो नहीं पाओगे तो दूसरे दिन उबासियां ले रहे हाओगे। बड़े मूर्च्छित–मूर्च्छित से, बेहोश–बेहोश जिओगे। ध्यान से जाग्रति आनी थी लेकिन बात उल्टी हो गई और मूर्च्छा ने घेर लिया। यह व्यक्ति करीब–करीब विक्षिप्त होने की कगार पर है। उल्टा ही परिणाम हो गया। क्यों? क्योंकि उसने सिर्फ समय बदल दिया। जो चीज सुबह की जानी थी, वह दिन भर कर रहा था, रात को सोते समय भी कर रहा था। नींद उसकी गायब हो गई।

तो छोटी–छोटी सी बातें बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। यह बड़ा ही लंबा–चौड़ा विषय है। तो

मैं संक्षेप में कहना चाहूंगा कि ओशो की ये विधियां किसी के मार्ग–दर्शन में, किसी शिविर के अंतर्गत सीख कर सक्रिय ध्यान से शुरू करें। और सक्रिय ध्यान भी बिना आवाज के करें ताकि घर–परिवार, समाज वालों को, अड़ोस–पड़ोस में किसी को तकलीफ न हो।

सद्‌गुरु ओशो ने स्वयं भी पुणे आश्रम में ऐसा ही सक्रिय ध्यान करवाया है। क्योंकि आस–पास के लोग शिकायत में रहते थे कि लोग शोरगुल मचाते हैं। फिर वह बंद कर दिया गया। बिना आवाज के सक्रिय ध्यान करवाया गया। तो डायनेमिक मेडिटेशन बेस्ट है शुरुआत करने के लिए। पहले कैथारसिस हो जाए, रेचन हो जाए। सद्‌गुरु ओशो कहते हैं कि अगर पूरी इंटेंसिटी से किया गया तो तीन दिन पर्याप्त होंगे। अगर धीमें–धीमें, कुनकुने–कुनकुने किया तो तीन महीने लग जाएंगे। पहले अपने भीतर की सफाई हो जाए। एक बार जैसे खेत की सफाई हो जाती है, उसके बाद फिर बीज बुआई।

जिस विधि से किसान चलता है, हमें वैसे ही चलना होगा। अब समय आ गया है बीज बोने का। अब निर्विचार शांति का बीज बोया जा सकता है। अब पानी सींचना होगा, खाद डालना होगा और तब अंकुर फूटता है। वह अंकुर है ओंकार नाद का श्रवण। फिर नादब्रह्म महत्वपूर्ण हो जाएगा। अब ब्रह्मनाद करो और उसमें ओशो क्या कहते हैं कि तुम अपनी धुन करते ही मत जाना, सुनना और जिस क्षण तुम्हें सुनाई पड़ना शुरू हो जाए अपनी ध्वनि बंद कर देना। अब ब्रह्म का नाद सुनो, अब उसमें डूबो। तो विधि परिवर्तित हो गई। शुरुआत में हम सफाई करेंगे, फिर हम बीज बोएंगे, फिर हम खाद–पानी डालेंगे। यह मैं उपमा स्वरूप कह रहा हूं, कभी विस्तार से एक–एक विधि की चर्चा करेंगे। इसी प्रकार ऊर्जा जागरण के भी बहुत से प्रयोग हैं। प्रकाश संबंधी प्रयोग हैं, मृत्यु संबंधी प्रयोग हैं, अंधकार संबंधी प्रयोग हैं। लेकिन भिन्न–भिन्न स्टेज पर काम करते हैं।

अंतिम प्रश्न– किसी छात्रा ने ईमेल से पूछा है कि मैं दसवीं कक्षा में हूं। मुझे गणित में अच्छे नम्बर कैसे मिलें, बताइए?

सुनो मुल्ला नसरुद्दीन की सलाह– छात्राओ, गणित वगैरह में ज्यादा होशियारी दिखाने की जरूरत नहीं! जो लड़कियां बचपन में मैथ्स में अच्छी होती हैं न, वो शादी के बाद 'कमेटी वाली आंटी' बन जाती हैं।

एक महिला कैदी दूसरी महिला कैदी से : तुम्हें पुलिस ने क्यूं पकड़ा? दूसरी कैदी : बैंक लूटकर वहीं पैसे गिनने लगी। मुझे देर लगने लगी। बस, पुलिस ने पकड़ लिया।

पहली कैदी : वहां गिनने की क्या जरुरत थी? दूसरी कैदी : अरे वहां मैनेजर की तरफ से नोटिस लिखा था– 'काउंटर छोडने से पहले पैसे गिंन लें। बाद में बैंक जिमेदार नहीं रहेगी। धन्यवाद!'

अपनी प्रकृति के मुताबिक जीवन जियो। सरल, सहज, स्वाभाविक बनो। स्वधर्म में रहो। तुम्हारे लिए कला, संगीत, नृत्य, चित्र, डिजाइन अधिक रसपूर्ण होंगे। वही सीखो।

प्रवचन 24

ध्यान का सही क्रम

पहला प्रश्न : कैसे एक नया इंसान या ध्यान से जो टोटली अनभिज्ञ है, वह शुरू करना चाहता है कैसे शुरू करें? क्योंकि हम गलत ध्यान शुरू करते हैं तो उस गलती से बच सके तो क्या कोई सही क्रम है? वह सही क्रम को कैसे जाने? कैसे सही व्यवस्था जुटा सके इस पर कुछ प्रकाश डालिए।

इस संबंध में मैं काफी विस्तार से चर्चा करना चाहूंगा। अपने अनुभव से जो मैंने सीखा, फिर सिखाया और उसमें मुझे कहां कठिनाइयां महसूस हुई हैं और कैसे फिर मैंने उनमें बदलाव किए।

प्यारे मित्रों पहले मैं तीन-तीन दिन के ध्यान शिविर लेते हुए सारी दुनिया में घूमा करता था। विशेषकर भारत में, नेपाल में, जापान में। मैंने देखा कि तीन दिन में हम जो सिखाते हैं फिर छः महीने, आठ महीने, साल भर बाद उस जगह पहुंचेंगे। कुछ मित्र फिर वही पुराने आएंगे, कुछ नए आ जाएंगे हम फिर ए बी सी से उनको सिखाएंगे। एक क्रम नहीं बन पा रहा था। यह ऐसे ही हो गया जैसे मैंने कहा कि डायनेमिक मेडिटेशन के द्वारा खेत की सफाई कंकड़-पत्थर हटा दिए, घास-पात उखाड़ दिया। जब वह समय आया बीज बोने का, खाद-पानी डालने का तब तक विदाई का समय आ गया। फिर साल भर बाद आए तब तक घास पतवार फिर उग आई थी। हमने फिर घास पतवार उखाड़ने का काम किया। फसल आने का कुछ इंतजाम ही नहीं हो रहा था। फिर हमने इस पर बहुत विचार-विमर्श किया। यह मेहनत व्यर्थ सी जा रही है। कुछ क्रमवद्ध होना चाहिए।

तो फिर हम लोगों ने इस प्रकार का व्यवस्था जुटाई कि नए साधक जो आएंगे उनको हम ध्यान वाली विधियां सिखाएंगे जिनमें रेचन प्रमुख है। पहले खेत की सफाई हो जाए। कंकड़-पत्थर अर्थात् दमित भावनाएं और विचार हटा दिए जाएं। घास-पात उखाड़ी जाए, जो व्यर्थ का कूड़ा-कबाड़ा भरा पड़ा है उसको खाली करके जमीन साफाई की जाए। इसके बाद फिर हमने जोर दिया ओंकार श्रवण पर। जागरण हो गया ध्यान से अब श्रवण पर जोर

दो। फिर हमने एक सेकेंड तल का कार्यक्रम बनाया जिसका नाम हमने रखा 'सुरति समाधि' सुरति बना है श्रुति से, श्रवण से। अब सुनो। तो जो व्यक्ति शांत हो गया है वही सुनेगा। जो लोग नहीं सुन पाए वे फिर से फर्स्ट लेवल अटेंड करें। अभी और जागें, और साक्षी बनें, और शांत हों।

तो प्रथम तल पर हमने साक्षी भाव पर जोर दिया, दूसरे तल पर श्रवण पर जोर दिया। ओशो के हम वे प्रवचन हम प्रत्येक समाधि में सुनाते हैं जो उस विषय से संबंधित हैं। जब कोई ध्यान समाधि करने आता है तब हम उसको जागरण से संबंधित, द्रष्टा भाव से संबंधित, साक्षी भाव से संबंधित, ऊर्जा जागरण से संबंधित प्रवचन सुनाते हैं। ताकि वह कहीं कंफ्यूज्ड न हो। क्योंकि मैंने अपने अनुभव से क्या देखा इसके पिछले आठ–दस सालों में कि साधक कंफ्यूज्ड हो जाते हैं। उन्होंने कभी कोई प्रवचन सुन लिया, कभी कोई प्रवचन सुन लिया, कोई विधि कर रहे थे फिर उन्होंने सुन लिया अष्टावक्र महागीता का प्रवचन जिसमें कहा कि कोई विधि जरूरी नहीं है सब विधियां बाधा हैं और उन्होंने विधियां छोड़ दी। बिल्कुल विपरीत बातें सुन ली। कभी तंत्र साधना से संबंधित कुछ सुन लिया, कभी योग साधना से संबंधित कुछ सुन लिया, फिर नारद का भक्ति सूत्र सुन लिया। अब नारद का 'भक्ति सूत्र' और महावीर का 'जिन सूत्र' इनमें कोई मैचिंग नहीं है। इन दोनों दिशाओं में तो कोई जा ही नहीं सकता है।

तो हमें देखना होगा, टटोलना होगा कि कब कौन सी साधना करनी है। तो व्यक्तिगत रूप से एक–एक इंडिविजुअल तो महत्वपूर्ण हो ही जाता है, लेकिन सामूहिक तल पर भी हमें, जैसे स्कूल की व्यवस्था है, फिर हमको यह बात सूझी कि स्कूल की व्यवस्था जैसा कुछ बनाया जाए। बच्चा केजी में जाता है, फिर प्राइमरी स्कूल में जाता है, क्लास वन, फिर क्लास टू। फिर टू पास हो गया तो क्लास थ्री। थ्री पास हो गया तो फोर। इस प्रकार की कुछ व्यवस्था बनती जाए। और मैं तो कहूंगा कि परम गुरु ओशो की कृपा, उनकी करुणा से वैसी व्यवस्था धीरे–धीरे बन गई। तो बहुत आयोजन करके तो नहीं बनाई थी लेकिन बन गई। तो प्रथम तल ध्यान समाधि में जागरण, साक्षी भाव पर जोर है।

दूसरा तल– अब अंतर्श्रवण। आपको याद दिलाई कुंडलनी ध्यान की जो विधि है उसके चार स्टेप्स हैं। पहला है कंपन्न के द्वारा ऊर्जा के जागरण। दूसरा है आनंदित होकर, प्रसन्न होकर नाचो ताकि वह ऊर्जा ऊर्ध्वगामी हो जाए, फूल जैसा खिल जाए। फिर तीसरा है– अब बैठ जाओ निश्चल होकर और बाहर बज रहे मोनोटोनस संगीत को सुनो। धीमी आवाज में वह संगीत चलता है। और चौथा चरण है– अब लेट जाओ, कुछ भी न करो। बाहर का संगीत भी बंद, अब अंतर्संगीत सुनो। हमने सद्गुरु ओशो का कलेक्शन तैयार किया एमपी थ्री. जिसका नाम रखा है 'अंतर्संगीत' उसमें वे सारी विधियां और प्रवचन हैं जो अंतर्संगीत श्रवण से संबंधित हैं। और मैं स्वयं भी हैरान हुआ कि जब मैं इस खोजबीन में लगा तो ओशो की छः सौ पचास किताबों में (हिंदी में और अंग्रेजी में सब में मिलाकर)

ओंकार साधना के ऊपर कि अगर सबसे महत्वपूर्ण बात ओशो की कहीं जाए तो वह 'एक ओंकार सतनाम' ही है, गुरु नानक देव की तरह। लेकिन विशाल ओशो जगत में यह बात बिल्कुल ही उपेक्षित रह गई। किसी ने इसकी तरफ ध्यान ही नहीं दिलाया।

तो दूसरा तल हमने बनाया सुरति समाधि। इसके बाद अब जो अंतर्संगीत सुनने में सक्षम हो गए उनके लिए हमने तीसरा तल बनाया 'निरति समाधि' अंतर्प्रकाश का दर्शन। और इसमें वे सारी विधियां आईं जैसे शिव नेत्र ध्यान, त्राटक ध्यान, गौरीशंकर ध्यान जो प्रकाश देखने से संबंधित हैं। अब केवल उन्हीं की साधना कराई जाएगी और भीतर प्रकाश दिखाई दे सके। जिसको हम कहें परमात्मा का आलोक या आत्म दर्शन कह लो। जो भी नाम प्रिय लगता हो। हमारे भीतर भी प्रकाश है। निरति शब्द नेत्र से बना है। सुरति यानी सुनने की क्षमता, निरति यानी देखने की क्षमता। हमारी चेतना बिना कानों के सुन सकती है और बिना आंखों के देख भी सकती है। उसी को तीसरा नेत्र या थर्ड आई भी कहते हैं।

तो तीसरे तल का कार्यक्रम निर्मित हुआ और यह इतना प्रभावी हुआ... क्योंकि वे लोग जो तीसरे तल में आए, वे दो तल अटेंड कर चुके हैं और इसके बीच में हमने तीन–तीन महीने का गैप रखा कि आप एक कार्यक्रम करके गए हैं तो पहले तीन महीने अपने घर में उससे संबंधित प्रवचन सुनिए, उन विधियों को और अच्छे से, गहराई से करिए। फिर तीन महीने बाद आइए। मिनिमम तीन महीने के बाद। तब आप दूसरे लेवल के लिए तैयार हो जाएंगे।

तीसरे तल के बाद फिर हमने रखा... सदगुरु ओशो की किताब है 'मैं मृत्यु सिखाता हूं।' जिसमें उन्होंने मृत्यु संबंधि प्रयोग कराएं हैं। चौथे तल का हमने नाम रखा 'अमृत समाधि'। मृत्यु के नाम से लोग थोड़ा डरते हैं। तो एक पॉजिटिव नाम देना पड़ा। इस संदर्भ में एक बात मुझे स्मरण आ गई। रजनीशपुरम ओरेगॉन में जब थे तब 'मैं मृत्यु सिखाता हूं' ओशो की इस प्रसिद्ध किताब का ट्रांसलेशन तैयार हुआ। उसका नाम अंग्रेजी में वैसा का वैसा रखा गया 'आई टीच डैथ' हैरानी की बात कोई भी प्रकाशक उसको छापने को तैयार न हुआ। कारण पता चला कि 'डैथ' वर्ड उसमें आता है और पश्चिम में, ईसाई मुल्कों में मृत्यु बिल्कुल टैबु है। जैसे भारत में सैक्स टैबु है, पश्चिम में डैथ टैबु है। उसकी चर्चा ही नहीं की जाती। बिल्कुल छिपा दिया जाता है जैसे कि है ही नहीं। फिर किसी प्रकाशक ने सुझाव दिया कि यह किताब तभी छपेगी जब आप इसका नाम रख दो। अंदर की कंटेंस तो आदमी बाद में पढ़ेगा जब खोलेगा, खरीदेगा। टाइटल देखकर कोई इसे खरीदेगा ही नहीं।

तो ओशो को तो आप जानते ही हैं कितने नान सीरियस। उन्होंने इस किताब का नाम क्या कर दिया मालूम? 'एंड हियर एन नाव' भीतर के कंटेंस से कुछ लेना–देना नहीं। ओशो का जो मजाकिया रवैया है पूरे जीवन को एक कॉस्मिक जोक की तरह देखना। 'एंड हियर एन नाव'। वही किताब फिर छपी और खूब बिकी। उसमें ओशो ने जो साधना पद्धति बताई है– वह है शरीर को मुर्दे जैसा छोड़ देने की। ओशो ने स्वयं अपनी अनुभूति भी उसमें

जिक्र की है। कहा है कि 1957 में जब मैं सागर यूनिवर्सिटी में पढ़ता था। एक पहाड़ी पर एक ऊंचा बरगद का वृक्ष थां उस पर बैठकर मैं रात्रि को साधना किया करता था। एक रात ऐसा हुआ कि शरीर नींचे गिर पड़ा और मैं ऊपर से आश्चर्य से देख रहा था कि मेरा ही शरीर नींचे पड़ा है और मैं उसको देख रहा हूं और एक सूक्ष्म सफेद धागा, एक सिल्वर कार्ड नाभी से जुड़ा हुआ है। ओशो कहते हैं कि यह पहली घटना है जब मैंने शरीर से भिन्न स्वयं को जाना उस सूक्ष्म रूप में। फिर तो यह घटना बारंबार घटी।

तो सद्गुरु ने उसकी सारी विधि बनाई है कि दूसरे लोग कैसे इसकी साधना करें? कोई नया व्यक्ति पहली बात तो मृत्यु संबंधि प्रयोग करने को तैयार ही नहीं होता है। क्योंकि उसके मन में मृत्यु के प्रति भय है। हमने इसको चौथे तल पर रखा। जिस व्यक्ति ने ऊर्जा जागरण कर लिया, साक्षी भाव साध लिया, अंतर्श्रवण और अंतर्दर्शन कर लिया अब वह तैयार हो गया है इस चौथे तल को करने के लिए। तो अमृत समाधि में हम मृत्यु वाले प्रयोग कराते हैं और आप जानकर हैरान होंगे कि करीब सत्तर प्रतिशत लोगों को इसमें सफलता मिल जाती है। ये अपने स्थूल शरीर से भिन्न स्वयं को जान पाते हैं। इसके साथ–साथ हम सम्मोहन और महाजीवन का प्रयोग भी करवाते हैं। सम्मोहन में सेल्फ हिप्नोसिस, अपने आप को सम्मोहित करना होता है। हमने सम्मोहन और महाजीवन से संबंधित सद्गुरु ओशो के प्रवचन एकत्रित किये और उस सीडी का नाम है 'सम्मोहन और पुर्नःजीवन'। 1967 में सद्गुरु ओशो द्वारा दिया गया एक प्रवचन है, जिसमें वे कहते हैं– मैं चाहता हूं कि साधक तैयार हो जाएं, उसकी एक बड़ी गिनती हो जाए फिर अलग से एक शिविर लूं जिसमें सामान्य ध्यान प्रयोग नहीं, बल्कि पिछले जन्मों में जाने के प्रयोग 'जाति स्मरण' के प्रयोग करवाऊं। जब मैंने ओशो का यह प्रवचन पढ़ा तो मुझे लगा कि यह तो ओशो ने कभी करवाया ही नहीं, यह उनकी इच्छा थीं। वे चाहते थे कि लोगों को पिछले जन्मों की याद करवाएं। क्योंकि उसमें आध्यात्मिक प्रगति में बड़ा सहयोग मिलेगा।

हम जो चीजें बार–बार कर चुके हैं,। धन कमा चुके हैं, स्त्री–पुरुषों के पीछे दौड़ चुके हैं, जब हम देख रहे हैं कि ऐसा सैकड़ों बार हो चुका है और हाथ में कुछ भी नहीं आया तब निश्चित रूप से इस जन्म में उन चीजों के प्रति हमारा आकर्षण खो जाएगा और हम वास्तविक सत्य की खोज में लगेंगे। तो ओशो ने अपनी इच्छा जाहिर की है कि मैं चाहता हूं कि शीघ्र ही इस प्रकार के विशेष शिविर लूं जिनमें वे साधक आएं जो पहले सारी साधनाएं कर चुकें हैं। ताकि उनको जाति स्मरण के, पूर्व जन्म के स्मरण में ले जाया जा सके। लेकिन संयोग की बात ऐसा कभी हो नहीं पाया। तो मेरे हृदय में भाव उठा कि शायद आज यह प्रवचन मुझे प्रेरणा दे रहा है कि इस संबंध में कुछ करो। फिर हमने इस संबंध में काफी जानकारी हासिल की। इस संबंध में ओशो के और खूब सारे प्रवचन पढ़े और हमने खोजा कि सम्मोहन की वह क्या विधि है और पिछले जन्मों की स्मरण की क्या विधि है? जिसको बुद्ध और महावीर ने जाति–स्मरण कहा है। तब हमने उस पर प्रयोग करवाने शुरू किए और

अमृत समाधि की रचना हुई।

ठीक इसी प्रकार आगे और क्रम बढ़ता चला गया... ध्यान की प्रक्रियाओं को ओशो के द्वारा बनाई गई विधियों को अलग-अलग लेवल पर आयोजित किया और हमने पाया कि मामला बिल्कुल ही आसान हो गया। पहले हम क्या कर रहे थे? एक प्राइमरी स्कूल वाला नया बच्चा है, उसको हम मैट्रिक क्लास की किताब पढ़ाने लगे थे या उसको ग्रेजुएशन लेवल का टेक्स्ट दे दिया था। उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता था। अब हमने जब क्रमबद्ध तरीके से जमाया तो हमने देखा कि सभी लोग उसको समझ पा रहे हैं। इस बीच में उनकी योग्यता और क्षमता बढ़ गई। अभी 'मैं मृत्यु सिखाता हूं' की बात चल रही तो सदैव जी मैं एक पत्र आपको ओशो के पत्रों से पढ़ कर सुनाना चाहूंगा-

'प्रभु को पाना है, तो मरना सीखो। क्या देखते नहीं कि बीज जब मरता है, तो वृक्ष बन जाता है!

एक बाउल फकीर से कोई मिलने गया था। वह गीत गाने में मग्न था। उसकी आंखें इस जगत को देखती हुई मालूम नहीं होती थीं और न ही प्रतीत होता था कि उसकी आत्मा ही यहां उपस्थित है। वह कहीं और ही था- किसी और लोक में, और किसी और रूप में। फिर, जब उसका गीत थमा और उसकी चेतना वापस लौटती हुई मालूम हुई, तो आगंतुक ने पूछाः आपका क्या विश्वास है कि मोक्ष कैसे पाया जा सकता है? वह सुमधुर वाणी का फकीर बोलाः केवल मृत्यु के द्वारा।

कल किसी से मैं यह बात कहता था। वे पूछने लगेः मृत्यु के द्वारा? मैंने कहाः हां, जीवन में ही मृत्यु के द्वारा। जो शेष सबके प्रति मर जाता है, केवल वही प्रभु के प्रति जागता और जीवित होता है।

जीवन में ही मरना सीख लेने से बड़ी और कोई कला नहीं है। उस कला को ही मैं योग कहता हूं। जो ऐसे जीता है कि जैसे मृत है, वह जीवन में जो भी सारभूत है, उसे अवश्य ही जान लेता है।'

दूसरा प्रश्न : अभी आपने कई सारी समाधियों का जिक्र किया। तो एक आदमी जब भी 'समाधि' शब्द सुनता है तो उसको लगता है कि हमें विशेष आसन में बैठे हुए बिना हिलेडुले, एक छवि बनती है। तो वास्तविक रूप से समाधि का अर्थ क्या है? समाधि यानी क्या?

समाधि ध्यान की पराकाष्ठा है, ध्यान का अगला चरण है। महर्षि पतंजलि ने जिस प्रकार विभाजित किया है आठ अंगों में अगर हम उसी दृष्टि से देखें तो पांच अंग तो बहिर्अंग कहलाते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार। आपने जिस आसन की बात की कि लोगों के मन में अक्सर यही छवि है। लेकिन पतंजलि के हिसाब से यह तो योग का बहिर्अंग है। अभी तो मंदिर के भीतर हमने प्रवेश ही नहीं किया। अभी तो हम मंदिर के बाहर के बगीचे में हैं। वह समाधि नहीं है। अंतरंग क्या है? वह है धारणा, ध्यान, समाधि। तो धारणा से हम ध्यान में जाते हैं, ध्यान से फिर अंत में समाधि में पहुंचते हैं। समाधि का अर्थ है– अपने भीतर जो चैतन्य है, जिसमें नाद गूंज रहा है, प्रकाश छाया है या अन्य दिव्य अनुभूतियां हो रहीं हैं, अतिन्द्रिय अनुभव हो रहे हैं उसके साथ थोड़ी देर के लिए एकात्म हो जाना, यूनियन। योग का वास्तविक अर्थ है– जोड़। सामान्यतः हम द्वैत में चीजों को तोड़कर देखते हैं। अगर मैं अपने शरीर के कर्मों का साक्षी हूं, शरीर अलग है, यह कर्म हो रहे हैं और मैं उसको देखने वाला द्रष्टा हूं। यदि मैं मन, विचार और हृदय की भावनाओं का द्रष्टा बनता हूं तो वे हो गए दृश्य और मैं हूं उसका द्रष्टा।

भीतर अंतर्आत्मा में पहुंच कर एक क्षण ऐसा आता है, वहां जो मैं सुन रहा हूं अनाहत नाद, वह और मैं दो नहीं बल्कि एक ही हैं। मैं स्वयं ही स्वयं को सुन रहा हूं। ब्रह्म ही ब्रह्म के नाद को जान रहा है। कोई अन्य वहां नहीं है। जब यह घटना घटती है तो इसका नाम है समाधि। तो ध्यान में द्वैत भाव रहता है, साक्षी रहता है। समाधि में साक्षी भी विलीन हो जाता है।

अंतिम प्रश्न– भारत के धर्मों में मोक्ष सर्वोपरि है जबकि दुनिया के अन्य मजहबों में स्वर्ग या जन्नत। ऐसा क्यों?

स्वर्ग यानी सुख। मोक्ष अर्थात् परम स्वतंत्रता। निश्चित ही सुख से ऊपर स्वतंत्रता है। एक बार पसीने से लथपथ नसरुद्दीन पुलिस स्टेशन आया और बोलाः मुझ गुनाहगार को अरेस्ट कर लो, बिल्कुल भीतर की किसी कोठरी में कैद कर दो। मैंने अपनी पत्नी के सर पर डंडा मारा है!

पुलिस अफसरः क्या वो मर गई? नसरुद्दीनः जी नहीं। खुदा के करम से वो तो सही सलामत बच गई, लेकिन अब मेरी खैर नहीं!

एक बार एक विदेशी कुत्ता भारत आ गया। देशी कुत्तों ने पूछा– भाई आपके वहाँ कोई कमी है जो आप यहाँ आ गये?

उसने कहा– मेरे वहाँ का रहन सहन, वातावरण, खान पान, जीवन स्तर सब कुछ यहाँ से ज्यादा अच्छा है। लेकिन भौंकने की जैसी आजादी भारत में है, वैसी संसार में कहीँ नहीं है।

दुख भी मर्जी से चुना जाए तो श्रेष्ठ है। सुख भी जबरन दिया जाए तो निकृष्ट है।

मोक्षम् शरणम् गच्छामि। ओशो शरणम् गच्छामि।।